मैं ब्रह्म हूँ

स्वामी निरंजन

मैं ब्रह्म हूँ

स्वामी निरंजन

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**

चतुर्थ परिवर्द्धित संस्करण : **गीता जयन्ती, २०१३**

मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर – २ (उड़िसा) फोन : 9437006566/ 7873335656

प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**

मूल्य : **रु** 120/-

No of Pages : 264

अनुक्रम

ग्रन्थ की भूमिका

समस्त प्राणियों की एक मात्र यही इच्छा रहती है कि वे सदा दुःख से रहित अखण्ड आनन्द को पाते रहें । इसी इच्छा को वेदान्त में मुक्ति नाम से कहा जाता है । प्रत्येक जीव, ब्रह्म का अंश होने से सहजानन्द स्वरूप ही है किन्तु बुद्धि में मल, विक्षेप तथा आवरण दोष होने के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर देह को मैं तथा देह सम्बन्धियों को मेरा मानने के कारण इस संसार में अनादि काल से दुःख भोग रहा है ।

जीवों को समस्त दुःखों से मुक्ति कराने एवं अखण्डानन्द का अनुभव कराने के लिये वेद में कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीन काण्डों का प्रतिपादन किया गया है । निष्काम कर्म के द्वारा जीव के मन से पाप वासना रूप मल दोष दूर हो जाता है । विक्षेप दोष दूर करने के लिये उपासना का प्रारम्भ होता है। क्योंकि जबतक जीव का मन एकाग्र नहीं होता तब तक वह भगवान की भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोही कपट छल छिद्र ना भावा ।।

–रामायण

आदि जगद्गुरू शंकराचार्यजी भी कर्म, उपासना को चित्त शुद्धि का ही अनिवार्य साधन बताते हैं ।

चितस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्म कोटिभिः ।

–विवेक चूड़ामणी : ११

अशुद्ध आहार, हत्या, गर्भपात, दहेज, गरीवों का शोषण, मिलावट, चोरी, जमाखोरी, रिश्वत, जीव बली, निन्दा, आदि दोषों को निष्काम कर्म एवं शुद्ध आहार द्वारा दूर करने पर ही यह जीव भगवान की भक्ति का अधिकार प्राप्त करता है । जब इसके शुद्ध मन में भगवान अथवा गुरु की भक्ति द्वारा विक्षेप दोष दूर हो जाता है एवं केवल एक आवरण दोष शेष रह जाता है तब इसे ब्रह्म जिज्ञासा (मुक्ति जिज्ञासा, आत्म जिज्ञासा, मैं कौन हूँ जिज्ञासा) जाग्रत हो जाती है, तब यह जीव वेदान्त ज्ञान का अधिकारी होता है ।

''स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते''

''अभेद दर्शनं ज्ञानम्'

– मैत्रेय उप.

''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'' ''यत्तज्ज्ञानं मतं मम''

– गीता: १३/२

अर्थात् जीव ब्रह्म एकत्व निश्चय ही यथार्थ ज्ञान है । इस शरीर रूप क्षेत्र में जो क्षेत्रज्ञ जीव है वह ब्रह्म है । ऐसा जानना ही वास्तविक ज्ञान है । शेष सभी मान्यता अज्ञान जनित है । इस प्रकार के एकत्व बोध कराने वाले ग्रन्थ को ही वेदान्त ग्रन्थ कहा जाता है । वेदान्तग्रन्थों का स्वाध्याय करने एवं अपने सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप को जानने हेतु सद्गुरु की शरण में जाकर उसकी सेवा करना ही भक्ति है ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।

ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्ष सिद्धयन्ति नान्यथा ।

– विवेक चूड़ामणी : ४८

योगदर्शनाचार्य पातंजली द्वारा अष्टांग योग से समाधि प्राप्त की जा सकती है किन्तु दुःखों का अत्यान्तिक निवृत्ति एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है । इसी प्रकार उपासना द्वारा इष्ट इच्छानुसार मुक्ति मिलती

है किन्तु वह भी ईश्वर आधिन होने से अस्थायी एवं पराधीन होने से वास्तविक मुक्ति नहीं है ।

आब्रह्म भुवनलोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।।

– गीता : ८/१६

तथा अनित्य कर्म द्वारा मिलने वाला लोक एवं भोग भी क्षणभंगुर अर्थात् नाशवान् होने से उसके द्वारा जीव को शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती है ।

परीक्षय लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो ।
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

– मुण्डको : १/२/१२

ब्रह्म प्राप्ति कि इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि अनित्यकर्मों के द्वारा वह जन्म–मरण के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकेगा ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

– गीता : ९/२१

जीवनमुक्ति पाने के लिये मुमुक्षु को कर्म, उपासना द्वारा मल, विक्षेप दोष दूर कर स्वरूप बोध के लिये किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की ही शरण ग्रहण करना चाहिये ।

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठिम् ।

– मुण्डकोष : १–२–१२

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रशनेन सेवया ।
उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

– गीता : ४/३४

उस अखण्ड, असंग, स्वयं प्रकाश, सर्वाधार, स्वरूप आत्म ब्रह्म को जानने के लिये कर्म, उपासना का फल सहित त्याग कर किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरू की श्रद्धा पूर्वक शरण ग्रहण करना चाहिये । सद्गुरु के द्वारा वेदान्त श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ही जीव परमशान्ति का अनुभव कर पाता है ।

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवता ।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुर्क्तिर्न सिध्यते ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।

शिष्य बनाकर धन एवं सम्मान पाने के लिये वेदशास्त्रो की मुख्य मुख्य पंक्तियाँ कंण्ठस्त कर डालें । सुन्दर प्रवचन करने की कला प्राप्त करले । देवताओं की आराधना कर सिद्धि भी प्राप्त करले किन्तु यह सब अनित्य फल को ही देने वाले हैं । अखण्डानन्द की प्राप्ति तो एकमात्र ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञान द्वारा ही हो सकती । अन्य साधन द्वारा सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ग्रन्थ में जीव को देह से पृथक् एवं जीव ब्रह्म एकत्व निश्चय कराने का ही पूर्ण प्रयत्न किया गया है । समस्त जीवों की देह आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंच भूतों की है, जिसे वेद से लेकर रामायण तक सभी ग्रन्थ प्रमाणित करते हैं ।

क्षिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम शरीरा ।

–रामायण

शास्त्र से अपरिचित व्यक्ति भी इसे माटी, मिट्टी, पिन्जर आदि नाम से पुकारा करते हैं । पंच भौतिक इस नश्वर, विकारी शरीर से पृथक् 'मैं द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द, आत्मा हूँ'– इस आत्म निष्ठा के अलावा अपने कल्याणार्थ अन्य किसी प्रकार के साधनों की किंचित् भी

आवश्यकता नहीं है । इस ग्रन्थ में इसी विषय को प्रारम्भ से अन्त तक नाना प्रकार की युक्ति, दृष्टांत तथा प्रमाणों द्वारा निश्चय कराने का प्रयासा किया गया है । देह से पृथक् 'मैं आत्मा ब्रह्म हूँ', यह ज्ञान उदय होने से ही मूक्ति है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव तू कैवल्यम्' इसी कारण इस छोटे से ग्रन्थ का नाम 'मैं ब्रह्म हूँ' दिया गया है यद्यपि, यह अत्यन्त छोटी सी पुस्तक प्रतीत होती है, तथापि जन्म-मरण के भय से मुक्त करानेवाली, मरण धर्मी जीव को अमृत बनाने वाली यह अमर संजीवनी बूटी ही है ।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस छोटे से ग्रन्थ में ही नहीं बल्कि सभी वेदांन्त ग्रन्थों में इस जीव ब्रह्म एकत्व आत्म विचार को अखण्डानन्द प्राप्ति का परमावश्यक मुख्य साधन माना गया है । जगद्गुरु शंकराचार्यजी जैसे परम विद्वान से लेकर भाषा ग्रन्थ रचयिता श्री निश्चलदासजी, पिताम्बरदासजी, दादुजी, कबीरजी, सुन्दरदासजी आदि अनेक ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरूषों ने भी अपने ग्रथों में जीव ब्रह्म एकत्व आत्मज्ञान पर विस्तार पूर्वक विचार किया है । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ग्रन्थ भी उन ग्रन्थों की तरह वेदान्त ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये महत्वपूर्ण रहेगा ।

प्रायः देखा जाता है कि वेदान्त के सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में होने के कारण केवल हिन्दी भाषी ज्ञान वालों के लिये कठिन होता है । अतः वे उन अमृत ग्रन्थों से लाभ उठा नहीं पाते हैं । इसलिये मुमुक्षुओंकी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु यह सरल हिन्दी भाषा में रचा छोटा-सा ग्रन्थ अवश्य ही उन्हें महान् उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें किंचित् भी मुझे सन्देह नहीं है । मैं नहीं कहता कि इससे पूर्व अन्य हिन्दी भाषी वेदान्त विचार सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं । अवश्य ही अनेक ग्रन्थ हैं किन्तु उनकी भाषा शैली एवं युक्तियाँ इतनी गूढ़ है कि एक साधारण हिन्दी ज्ञान वाला व्यक्ति उन ग्रन्थों के द्वारा पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं कर पाता है । 'मैं ब्रह्म हूँ' ग्रन्थ ऐसे साधारण ज्ञान वालों के लिये तो समस्त संशय जाल को नष्ट करने में तलवार का नहीं,

बल्कि ज्ञानाग्नि का ही काम करेगा । इसकी प्रज्वलित ज्वालाओं में जीव के अनादि-कालीन अज्ञान जन्य भव, भय, भ्रम एवं कर्म जलकर भस्म हो जावेंगे जिससे यह जीव अपने को सच्चिदानन्द आत्मा रूप में सरलता से अनुभव कर सकेगा ।

अनुबन्ध

जिन जिज्ञासुओं के अन्तकरण के मल-विक्षेप दोनों दोष कर्म, उपासना अथवा गुरु भक्ति द्वारा निवृत्त हो चुके हैं और जिनका अन्तःकरण विवेक-वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता ज्ञान के ये चार बहिरंग साधन सम्पन्न है वे अज्ञान आवरण दोष युक्त साधक इस ग्रंथ के स्वाध्याय करने के उत्तम अधिकारी है ।

इस ग्रन्थ का विषय अविद्या तथा माया उपाधि से रहित जीव ब्रह्म का एकत्व निश्चय करना है ।

इस ग्रन्थ का प्रयोजन जीव को जन्म-मरण के भ्रम से छुड़ाकर अखंडानंद की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति का अनुभव करा देना मात्र है ।

- स्वामी निरंजन

गुरु तत्व

गुरु नाम है ज्ञान का, सीख ले सोई शिष्य ।
ज्ञान मरजादा जाने बिना, नहिं गुरु अरु शिष्य ।।

जिज्ञासु की बुद्धि से अज्ञान-अन्धकार को नष्ट कर जो ज्ञान का प्रकाश कर दे वही गुरु है । अज्ञान यही है कि ''ब्रह्म से पृथक् मैं देह हूँ, मैं जीव हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता व जन्म-मरणादि युक्त हूँ'' । इस मिथ्याभिमान का छेदन कर जो आत्मज्ञान का प्रकाश कर दे, याने मैं देह, इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ वही गुरु कहलाने एवं बनाने योग्य है । गुरु केवल लिंगोटी धारण करने वाला, तुम्बी रखने वाला, रंगे कपड़े वाला, बाहरी वेश वाला, जटा-दाड़ी-मूछ, तिलक, कंठी, छापा अथवा सम्प्रदायी नहीं होता है बल्कि गुरु श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए । श्रोत्रिय याने वेद के तात्पर्य को तत्त्व से जानने वाला एवं जिज्ञासु की शंकाओं को शास्त्र एवं सरल युक्तियों द्वारा समाधान करने में समर्थ होने के साथ वह ब्रह्मनिष्ठ भी होना चाहिये । अर्थात् जिसकी ब्रह्म स्वरूप में पूर्णतया निष्ठा हो चुकी हो, जो राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा मानादि से रहित हुआ क्षमा, दया, प्रेम, वैराग्य, शांति, धीरज, भीतर-बाहर शुद्ध आचरण वाला होता है ऐसे शुभ गुणों से सम्पन्न गुरु का समागम करना चाहिये । केवल श्रोत्रिय अथवा ब्रह्मनिष्ठ किसी एक विशेषण वाले से निःसंदेह बोध नहीं होता । गुरु के पास जाने हेतु भगवान भी अर्जुन को उपदेश करते हैं :-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ।। - गीता ४/३४

असतो मा सद्गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्माऽमृतंगमय !!!

गुरु को साष्टांग नमस्कार करने के पश्चात् उनकी सेवा द्वारा उन्हें भली प्रकार प्रसन्न कर अपने जन्म-मरण रूप भव बंधन निवारणार्थ प्रश्न करना चाहिये । जैसे बंधन क्या है ? विद्या किसे कहते हैं ? अविद्या की निवृति कैसे होगी ? आत्मा कौन है ? परमात्मा कौन है ? इनका आपस में सम्बन्ध क्या है ? इस प्रकार के प्रश्न द्वारा गुरु के पास से अपने क्लयाण का साधन जानना चाहिये । फिर वे ज्ञानी (श्रोत्रिय) तत्त्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) तुम्हें ब्रह्म ज्ञान का उपदेश भली प्रकार से करेंगे ।

हे मुमुक्षु ! यदि गुरु केवल श्रोत्रिय है एवं ब्रह्मनिष्ठ नहीं है, तो वह मुमुक्षु को नि:संदेह आत्मसाक्षात्कार नहीं करा सकेगा और यदि वह केवल ब्रह्मनिष्ठ है तब भी वह जिज्ञासु के मन की शंकाओं को शास्त्र प्रमाण द्वारा समाधान नहीं करा सकने के कारण निःसन्देह नहीं कर सकेगा । अस्तु सद्गुरु श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ भी होना चाहिये ।

जैसे किसी व्यक्ति को नदी के पार जाना है, नदी का रास्ता पथिक को ज्ञात नहीं है । तो उसने तट पर बैठे एक व्यक्ति से नदी पार करने का मार्ग पूछा । वह व्यक्ति कहता है कि तुम चिन्ता मत करो मुझे साथ ले लो, मैं रास्ता जानता हूँ, नदी सुगमता से पार करा दूंगा, किंतु वह अंधा था । यात्री को उस अंध के वचन पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि जन्मान्ध व्यक्ति पानी में कैसे राह जान सकेगा ? यह सोच, उसके पास से चला गया । थोड़े दूर पर एक व्यक्ति बैठा मिला जो आंखों से तो समर्थ था किंतु पैर से पंगु था, उसने कहा मैं रास्ता जानता हूँ, आप किसी को साथ न लें पानी नदी में थोड़ा है, जैसा कहूँ वैसे चले जाओ । किंतु पथिक ने देखा कि यह पंगु है । यदि मैं इसके वचन पर विश्वास करलूं व रास्ते में डूब मरू तो क्या होगा ? अस्तु ! मैं तो इसके कथनानुसार अकेला नदी में प्रवेश नहीं

करूंगा । थोड़ी ही दूर उसी किनारे एक हृष्ट-पुष्ट युवक बैठा था तथा तैरने में भी समर्थ था उसने कहा मेरे साथ आओ तो मैं तुमको पार उतार दूंगा, तब उसके वचन में विश्वास कर सुगमता से निर्भय होकर पार हो गया और अपने नगर को सुख पूर्वक पहुँच गया ।

अब यहाँ इस द्रष्टान्त पर ध्यान दीजिये कि जो पथिक है वह मुमुक्षु है । नदी संसार सागर है । नदी पार होना मोक्ष है । पहला अंधा जो मिला वह शास्त्र ज्ञाता श्रोत्रिय केवल अनुमान द्वारा नदी पार होने की बात बताता था इसलिये विश्वास नहीं हुआ अर्थात् केवल शास्त्रों को जानने वाला पंण्डित अंधा ही है । अंधे के पैर में जैसे चलने की शक्ति तो है, किन्तु मार्ग देखने को उसके पास आंख नहीं है । उसी तरह केवल शास्त्रों का निरूपण करने की शक्ति वाला गुरु हमारा मार्ग दर्शक बनकर निर्भयतापूर्वक हमारा मार्ग तय नहीं करा सकता, क्योंकि उस गुरु ने ब्रह्मानुभूति ही नहीं की तो वह अन्य को क्या करायेगा । ऐसे अज्ञानी गुरु भोले जीवों को मोक्ष दिलाने एवं ब्रह्मदर्शन कराने का ज्यादा दावा करते हैं और जो जिज्ञासु उसकी बात में फंस जाते हैं, वह तो अन्धे के कन्धे पर हाथ रख, भव सागर पार करने की आशा रख बीच में ही दोनों डूब मरते हैं । अस्तु ! केवल शास्त्रज्ञानी श्रोत्रिय अन्धे की तरह समझना चाहिये जैसे -

गुरुवा तो सस्ता भया, कौड़ी मिले पचास ।
अपने को पहचाना नहीं, शिष्य करन की आस ।।

कन फूंका गुरु हदका, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, लगे ठिकाना ठोर ।।

जागा गुरु है आंधरा, चेला निपट निरंध ।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोउ कूप परन्त ।।

जानत के बूझा नहीं, बुझ किया नहीं गौन ।
अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावे कौन ।।

गुरु किया है देह का, सद्गुरु चिह्ना नाहिं ।
भवसागर के जाल में, फिरि फिरि गोता खाहिं ।।

बन्धे को बन्धा मिले, छूटे कौन उपाय ।
कर सेवा निरबन्ध की, पल में लेत छुड़ाय ।

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजे बार ।
द्वार न पावे सत्य का, भटके बारम्बार ।।

गुरु गुरु में भेद है, गुरु गुरु में भाव ।
सोई गुरु नित बदिंये, जो शब्द बतावे दाव ।।

गुरु मिला न शिष मिला, लालच खेला दाव ।
दोऊ बूढ़े मझधार में, चढ़ि पाथर की नाव ।।

नदी पार के द्रष्टान्त में उस पंगु व्यक्ति के स्थान पर केवल ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिये ।अस्तु ! जिसको गुरुकृपा से ब्रह्म स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान रूपी चक्षु प्राप्त हो चुका है वह स्वयं संसार सागर के पार परब्रह्म को जानता भी है ।लेकिन अज्ञानी को 'तू ब्रह्म है' ऐसा विश्वास दिलाने के लिये उसके पास वेद वाक्यों के प्रमाण रूपी पांव नहीं है ।वह युक्ति द्वारा उपदेश करने में असमर्थ होने से अपंग के समान है ।इसलिये उसको ब्रह्म का यथार्थ अनुभव होते हुए भी जिज्ञासु को उसके वचन पर विश्वास नहीं हो पाता है कि यह संसार रूपी नदी तुच्छ है, और ईश्वर कृपा से गाय के खुर को लांघने के समान सहज है ।परमेश्वर अद्वितीय, अनन्त, असंग, अक्रिय, निर्विकार, निराकार, निर्गुण, नित्य, व्यापक है । हे जीव ! तू प्रत्यग्ज्ञात्मा तीनों देह से रहित तीनों अवस्था का साक्षी, पंचकोशातीत, द्रष्टा, स्वयं प्रकाश, सच्चिदानन्द स्वरूप है ।तू इस संसार सागर को बिना कष्ट के पार कर सकता है ।

जैसे नदी पार ले जाने वाला नेत्र तथा पैर वाला व्यक्ति मिलने पर उसके साथ जाने में पथिक को जरा भी भय, शंका न हुई एवं नदी पार कर अपने धाम को सुख पूर्वक पहुँच गया । इसी प्रकार गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये । इस प्रकार इन दोनों विशेषणों युक्त गुरु की सहायता से ही जीव अथाह अगाध, भयानक, दुःख रूप भवसागर को पार कर सकता है । अस्तु ! ऐसे गुरु को भली प्रकार खोजकर उनकी शरण में जाना चाहिये ।

अथर्व वेद के मुण्डक उपनिषद में भी जिज्ञासुओं को समिधा उपहार हाथ में लेकर विनय पूर्वक परमतत्त्व प्राप्त करने हेतु श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ यह दो उपाधि युक्त गुरु की शरण में जाने का आदेश है ।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरमेवाभिगच्छेत समित्पाणीः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

– मुण्डक १–२–१२

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधतः' – कठोप. १–३–१४

इसी प्रकार श्रीमद् भावगत के एकादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय में प्रबुद्ध नाम के योगेश्वर को जनक राजा ने कहा है –

तत्माद् गुरु प्रपद्यते जिज्ञासु श्रेयः उत्तमम् ।
शाब्दे परे न निष्णात ब्रह्मण्युप शमाश्रयम् ।।

इस लोक तथा परलोक के भी सभी विषय भोग कर्म जन्य होने पर भी फल नाशवान तथा दुःख देनेवाले हैं । इसके लिये नाश रहित परम सुख स्वरूप मोक्ष चाहने वाले मुमुक्षुओं को वेद के सच्चे अर्थ को जानने वाले श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ तथा शान्तिवान् गुरु के पास जाना चाहिये क्योंकि –

गुरुबिन भव निधि तरइ न कोई ।
जो विरंची शंकर सम होई ।।

फिर उनसे पूछना चाहिये कि हे गुरुदेव ! मैं जन्म–मरण रूप संसार से कैसे छूट सकुंगा ? इसके लिये, जप, तप, तीर्थ यज्ञादि कर्म–साधन है

अथवा अन्य कोई साधन है ? मैं कौन हूँ ? यह शरीर – मैं हूँ अथवा इन्द्रियाँ मैं हूँ ? प्राण, मन, अहंकार मैं हूँ ? या इनसे पृथक् अन्य कोई हूँ ? यह कृपा कर मुझे उपदेश कीजिए तथा जन्म–मरण के महादुःखों से सदैव के लिये मुक्त कीजिए ।

ज्ञानी गुरु के समीप जाकर आत्मज्ञान के सम्बन्ध में जो मनुष्य प्रश्न नहीं करता वह नराधम है और जो पूछने पर गुरु उत्तर न देसके उसको तो जितना बुरा कहा जाय उतना ही थोड़ा है, वास्तव में वह मनुष्य रूप में तन, मन, धन, लूटनेवाला लूटेरा, डाकु अथवा राक्षस ही है ।

'प्राज्ञं प्राप्य न पृच्छन्ति ये केचिते नराधमः'

–अ.पु.३२५

जब इस प्रकार शिष्य द्वारा तत्त्वज्ञान लाभ हेतु उत्कण्ठा देखी जाती है तब योग्य गुरु उसका जन्म–मरण रूपी महादुःख मिटने हेतु उपदेश करते हैं एवं उपाय बताता है ।

सत्, चित्, आनन्द एक तू । ब्रह्म अजन्मा असंग ।।

हे आत्मन् ! तू अपना स्वरूप जान कि तू सच्चिदानन्द स्वरूप है । देह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का साक्षी प्रत्यक आत्मा है । देह, इन्द्रियादिक मैं नहीं तथा देह के धर्म, वर्ण, आश्रमादिक भी मेरे नहीं है । मैं तो केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ । ऐसा ज्ञान जिस समय दृढ़ हो जावेगा उसी समय तेरा अज्ञान सहित जन्म–मरण का महादुःख भी नष्ट हो जायेगा । इसके अलावा मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं, अपने आत्म स्वरूप को जानना ही हरि को जानना है ।

नेम, धर्म, आचार, ब्रत योग यज्ञ जप दान ।
भेषज पुनि कोटिन करो, रुज न जाय हरि जान ।।

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान ।
शीश दिये पर जो मिले, तो भी सस्ता जान ।।

तीन लोक नव खण्ड में, गुरु से बड़ा न कोय ।
कर्ता चहे न करि सके, गुरु चहे सो होय ।।

गुरु मिला तब जानिये, मिटे मोह तन ताप ।
हर्ष शोक व्यापे नहीं, तब गुरु पूरे आप ।।

जा गुरु से भय ना मिटे, भ्रान्ति जीव न जाय ।
सो गुरु झूठा जानिये, बार बार भटकाय ।।

राखहिं गुरु जो कोप विधाता ।
गुरु प्रकोप नहीं कोउ जगत्राता ।।

ते सिर कटु तूमरी सम तूला ।
जे न नमत गुरु हरि पद मूला ।।

जे नर गुरु सन ईर्षा करहिं ।
रौरव नरक कोटि जुग परहिं ।।

सद्गुरु के उपकार को, जीव न समझि परे ।
जो जाने सो सब विधि, गुरु सन हेत करे ।।

कबीर गुरु की भक्ति बिन, नारी कूकरी होय ।
गली गली भौंकत फिरे, टूक न डारे कोय ।।

ज्ञानी गुरु को कीजिये, बहुतक गुरु लबार ।
अपने अपने लोभ को ठोर–ठोर बटमार ।।

मुंड–मुड़ाये, जटा रखाये, मस्त फिर जैसे भैसा ।
तन के उपर खाक लगावे, मन जैसे का तैसा ।।

आसन बसन धोये सभी दिल का तजा न मैल ।
गौरख धन्धे में पड़ा रहा बैल का बैल ।।

सती न पीसे पीसना, जो पीसे सो रांड ।
साधु भीख न मांगई, जो मागें सो भांड ।।

गुरु कृपा तब जानिये, फिके लागे भोग ।
जितने जग के भोग हैं, सबही दिखे रोग ।।

गुरु को सब कुछ जानिये, कीजे ताकी सेव ।
गुरु सहिब, गुरु साईयाँ, गुरु देवन के देव ।।

वेष देख मत भूलिए, पूछ लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ।।

ध्यान मूलं गुरु मूर्ति, पूजा मूलं गुरु पदम् ।
मंत्र मूलं गुरुर्वाक्यं मोक्ष मूलं गुरु कृपा ।।

गुरु र्ब्रह्मा गुरु र्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव जगत् सर्वं तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानान्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

सर्वश्रुति शिरोरत्न विराजित पदाम्बुजम् ।
वेदान्ताम्बुज मार्तण्ड तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

कोटिन चन्दा उगही, सूरज कोटि हजार ।

तिमिर तो नाशे नहीं, गुरु बिन घोर अन्धार ।।

(भावार्थ मेरे रचित कबीर साक्षी संकलन में देखें)

सद्‌गुरु भगसागर से पार होने के लिये सुदृढ़ जहाज रूप हैं । अथवा संसार नदी से पार होने के लिये सेतु रूप है । जहाज, ट्रेन, बस, नौकादि का उपयोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये है । उसके बाद उन साधनों का अपने घर में प्रवेश नहीं है । इसी प्रकार गुरु भी जीव को संसार से परमात्मा तक पहुँचाने के लिये सेतु रूप है । सेतु पर घर बनाकर रुक जाना अज्ञान है । जो गुरु परमात्मा व आपके बिच दिवार बन अपनी ही आराधना, उपासना में शिष्य को फंसा रखे वह नामधारी गुरु अधोगती को ही प्राप्त होगा । जैसे रामकृष्ण परमहंस व परमात्मा के बीच मां काली दिवार रूप हो रही थी । तो उसे सद्‌गुरु तोतापुरीजी ने ज्ञान द्वारा रामकृष्ण व परमात्मा के बीच से हटाकर दोनों का एकत्व कराकर स्वयं भी बीच से हट गये ।

चौरासी का चक्कर क्यों ?

अनादिकाल से संसार का प्रत्येक प्राणी अपने सच्चिदानन्द द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप को नहीं जानने के कारण कभी स्वेदज, अंडज, उद्भिज तथा जरायुज इन चार मार्गों से उत्पन्न होता हुआ, बीस लाख प्रकार के स्थावरों की योनियों से, तीस लाख चौपायो की योनियों से, ग्याहर लाख आकाश में उड़ने वाले पक्षी योनियों से, दश लाख भूमी में छिपकर रहने वाले कीट, पतंगादि योनियों से, नवलाख जल में रहने वाले जन्तुओं की योनि से, तथा चार लाख प्रकार के मानवों की योनियों से निकलता हुआ चौरासी लाख योनियों के असहनीय कष्टों को भोगता हुआ ईश्वर कृपा सें यह देव दुर्लभ मानव जन्म प्राप्त करता है ।

कबहुक करि करूणा नर देही, देत ईश बिन हेतु सनेही ।।

जब जीव गर्भ में होता है तब यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे दुःख भंजन मुक्ति प्रदाता श्री हरि ! आप मुझे इस गर्भ यन्त्रणा से मुक्त कर दीजिये, मैं अपने अमृत जीवन को अब धन, पुत्र, मित्र आदि नश्वर वस्तुओं के लिये नष्ट नहीं करना चाहता हूँ बल्कि ज्ञान प्राप्त कर सदा के लिये जन्म-मृत्यु के दुःख से छूटना चाहता हूँ ।

कामीहि नारी पियारी जिमी, लोभी के जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहुँ मोहि राम ।।

तब वे श्रीहरि इस जीव की दशा देख कर मुक्ति प्रदायक 'सोऽहम्' महामंत्र को प्रदान कर अपनी माया को आदेश देकर योनि द्वार से बाहर करा

देते हैं । इस प्रकार चौरासी लाख योनियों के बाद इस जीव को यह साधन धाम मुक्ति द्वार रूपी मानव शरीर की प्राप्ति होती है । जब जीव को अपने को समझने की होश आती है तब फिर यह वही दुःखरूप संसार के पदार्थों में मैं-मेरा भाव कर गर्भ में परमात्मा से किये वचन को भूल जाता है । यह जीव फिर नश्वर संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रंग, रस, गन्ध विषयों में पुनः फंस अपने अनन्त सहस्त्रों वर्षों के बाद प्रभु कृपा से प्राप्त मानव जीवन को संसार के विषयों में फंसाकर बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त करता है । किन्तु मुक्ति कराने वाले आत्मज्ञान के आधार रूप विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुता, एवं सम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा आदि साधनों को अपनाकर भव बन्धन से छूटने हेतु चेष्टा नहीं करता है ।

आकर चार लख चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।।

अज्ञान के कारण यह जीव अविनाशी होकर भी बारम्बार चौरासी लाख योनियों का चक्कर काटता फिरता है । इस अवस्थाको द्रष्टान्त से अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे ।

द्रष्टान्त :

किसी नगर में एक नेत्रहीन व्यक्ति रहता था । वहाँ उसे अनेक प्रकार के असहनीय कष्टों को सहन करना पड़ता था । एक दिन उसे उस नगरी से बाहर जाने के लिये इच्छा हुई । उसने किसी सज्जन पुरुष से नगर के बाहर जाने का मार्ग पूछा । उस सज्जन ने उसका एक हाथ नगर के कोट दिवार से सटा कर कहा कि सूरदासजी तुम इस दिवार के सहारे-सहारे बिना किसी के पूछे चलते जाओ । इस नगरी के बाहर जाने का एक ही मुख्य द्वार है । सूरदास एक हाथ उस दिवार को लगा तथा दूसरे हाथ से लकड़ी का सहारा लिये चलता गया, जैसे ही वह द्वार के समीप पहुँचने को था तभी उसको खाज होने लगी, तो वह लकड़ी का सहारा लेता हुआ चलता रहा एवं

दिवार से लगा हाथ हटा खुजलाने लगा । जब कि वह खुजलाते हुए मुख्य द्वार से गुजर चुका था । इस प्रकार जब-जब वह मुख्यद्वार के समीप पहुँचने को होता था कि उसे पुनः खुजली हो जाती थी, और खुजलाते हुए द्वार से आगे निकल जाने पर पुनः पुर्ववत् दिवार को छूता हुआ चलने लगता था । सुरदास मन में यही सोचता था कि अभी मुख्य द्वार पर पहुँचने वाला हूँ । इस प्रकार चक्कर लगाता हुआ वह अन्ध पुरुष रास्ते के कांटे, पत्थर तथा गड्ढों के कष्टों का सामना करता हुआ असहनीय वेदना पाता हुआ किसी गहरी खाई में जा गिरा । वह वहाँ भूखा-प्यासा पड़ा चिल्लाता रहा, किन्तु कोई मदद प्राप्त न कर सका और उसने वही दम् तोड़ दिया ।

उपरोक्त द्रष्टान्त किसी अन्धे व्यक्ति की जीवन दशा का वर्णन करने हेतु नहीं है, अपितु इसी मानव जीवन की दशा का वर्णन करने हेतु ही है । वह अन्ध पुरुष यह मानव ही है, सज्जन पुरुष संत है, नगरी की दिवार चौरासी लाख योनियाँ है, कांटे, पत्थर, गड्ढों का कष्ट नाना रोगादि हैं । मुख्य द्वार मानव जीवन है । खाज शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि पंच विषयासक्ति है तथा दिवार को हाथ स्पर्श करना सदोपदेश है । दिवार से हाथ छोड़ना अर्थात् कल्याण मार्ग छोड़कर अपनी मन मानी करना है ।

जीव को जब-जब मुक्ति द्वार रूप मानव जीवन प्राप्त होता है तब-तब वह पंच विषयों में फंस देव-दुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ कष्ट पाता रहता है । जब यह जीव अनेक सहस्त्र वर्षों बाद ईश्वर कृपा से मानव जीवन प्राप्त कर, किसी सद्गुरु की शरण ग्रहण करेगा एवं तदानुसार अपने ब्रह्मात्मा स्वरूप का निश्चय करेगा । तभी यह इस माया नगरी से सदा के लिये मुक्त हो सकेगा ।

अलि, पतंग, मृग, मीन, गज इनको एकहुं आंच ।
तुलसी वाकी का गति, जाके पीछे पांच ।।

मृग, गज, पतंगा, मीन तथा भ्रमर इन पांचों प्राणियों को क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध विषयों की आसक्ति होने से ये मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । संत तुलसी दासजी मानव की विषयासक्ति देख दुःख प्रकट कर कहते हैं, कि उस जीव की इनसे ज्यादा भयंकर क्या गति होगी जिसके साथ पांचों विषयों की आसक्ति प्रबल रूप से लगी हुई है ? अर्थात् मानव जीवन जो एकमात्र मोक्ष के लिये ही है उसे पशुवत् जीवन भरण–पोषण में नष्ट नहीं करना चाहिये । जो आत्म हीरे को छोड़ विषय रूप कांच ग्रहण करने में नष्ट कर रह हैं, वे महामुर्ख ही है । तुलसीदासजी कहते हैं –

यह तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःख दाई ।।

हे मानव ! यह उत्तम जीवन अनित्य भोगों एवं अनित्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करने के लिये नहीं हैं क्योंकि प्रथम प्रिय लगनेवाले विषय भोग परिणाम में दुःख रूप ही होते हैं । **'यत्तग्रेऽमृतोपमम् परिणामे विषमिव'** – गीता : १८/३६ इसी बात को यमराज नचिकेता को कह रहे हैं

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।'

हे अनादि निद्रा में सोने वाले भव्य जीवों ! अपने भोग वासना से उपराम होकर किसी श्रेष्ठ महापुरुषों की शरण ग्रहण कर देहान्त से पूर्व अपना कल्याण करलो । मानव जीवन कि महिमा आत्मज्ञान प्राप्त करने में हैं न कि अनित्य भोग एवं लोकों के लिये है ।

जगत् बन्धन रूप नहीं

ईश्वर द्वारा माया से रचा जगत् यदि ज्ञान चक्षु से मिथ्या देखने में आता रहे, तो फिर उसे दूर करने की हमें आवश्यकता नहीं है । ईश्वर रचित जगत् जीव को बन्धन रूप नहीं है, बल्कि जीव के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक है । जब उस ईश्वर रचित संसार में जीव अहंता-ममता एवं सत्य बुद्धि कर लेता है, तब स्वयं का बनाया द्वैत रूपी जगत् ही उसके बन्धन का कारण होता है । उसी को दूर करने हेतु सद्गुरु की आवश्यकता होती है, ईश्वर रचित जगत् जीव को बन्धन नहीं करता है ।

ईश्वर रचित देह, स्त्री, पुत्र, धन सम्पत्ति, वैभव आदि में जो मिथ्या अहंता-ममता रूप दृढ़ अध्यास दिखाई पड़ता है, वही जीव का अपना बनाया हुआ जगत् बन्धन रूप है ।

ईश्वर रचित हाड़, मांस की स्त्री, पुत्र अगर मर जावे तो जिसने उसे अपना मान ममत्व किया है, बस वही उस स्त्री, पुत्र की मृत्यु पर दुःखी होता है । यदि किसी अन्य पड़ौसी के स्त्री, पुत्र, पति, माँ, बाप मरे अथवा धन सम्पत्ति लुट जावे तो उनमें उसे कोई ममता न होने से वह अप्रिय घटना उसके लिये न दुःख रूप होती है न बन्धन रूप । इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर रचित जगत् हमारे लिए दुःख रूप अथवा त्याग ने योग्य नहीं है, किन्तु हमारा स्वतः का निर्मित द्वैत जगत् ही दुःख का कारण है । अतः मैं एवं मेरा, तू एवं तेरा यही अपनी बनाई हुई सृष्टि बन्धन रूप है, इसी माया से मोहित होकर जीव जन्म-मरण का दुःख भोगता है । अस्तु अपने मन का बनाया हुआ द्वैत संसार ही बंधन देने वाला है एवं आत्म ज्ञान द्वारा उसकी

ही निवृत्ति करना जीव का कर्तव्य है । ईश्वर निर्मित जगत् के अभाव होने से हमारा कल्याण नहीं होगा । योगी द्वारा समाधि में ईश्वर निर्मित जगत् का पूर्ण अभाव हो जाता है । उसी प्रकार सभी जीवों का समान रूप से सुषुप्ति में द्वैत जगत् का पूर्ण अभाव हो जाता है । इस प्रकार के क्षणिक जगत अभाव से किसी के दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती है । देखा जाता है कि नींद एवं समाधि की निवृत्ति हो जाने पर पुन: वही दु:ख रूप जगत् जीव को भासित होता है । अत: अपने अज्ञान कृत द्वैत भाव की निवृत्ति तत्त्व ज्ञान द्वारा दूर किये बिना, अन्य किसी प्रकार जीव को शाश्वत शांति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन'
'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तएव च'

– गीता : १०/२०

वेद भगवान कहते हैं कि यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । अखण्ड ब्रह्म ही कण-कण में विद्यमान है । परमात्मा ही आकाश रूप होकर समस्त सृष्टि एवं जीव को अवकाश दे रहा है । वही पवन रूप होकर सबमें प्राण रूप समाया हुआ चारों प्रकार के अन्न को पचाता है । परमात्मा ही तेज रूप होकर सब में उष्णता रूप बैठा है एवं साक्षी होकर सबको प्रकाश करा रहा है । वही चन्द्रमा होकर सबको शीतलता एवं अन्न को पकाता है । परमात्मा ही जल रूप होकर सबके जीवन रूप विद्यमान है तथा पृथ्वी रूप होकर सबका धारण पोषण कर रहा है । परमात्मा ही मन रूप होकर समस्त विषयों को ग्रहण कर रहा है । **'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'**

अतः अपने इस शरीर क्षेत्र में जो क्षेत्रज्ञ, मैं रूप जीव है वह ब्रह्म ही है । अर्थात् सोऽहम् भाव करना ही संसार बन्धन से मुक्ति का एकमात्र साधन है ।

◈ ◈ ◈

अहंकार ही बन्धन है

सद्‌गुरु शरणापन्न हो जाने पर उनके द्वारा बताये गये ज्ञान के श्रवण, मननादि साधनों द्वारा जीव भव-बन्धन से मुक्ति हो जाता है । मुक्ति हेतु अन्य कोई उपाय नहीं है । देहादिक में से अहंता-ममता रूप प्रबल महाशत्रु को दूर करने हेतु विवेक तथा वैराग्य रूपी तेज तलवार की सहायता अवश्य लेनी होगी । क्योंकि आत्मा (नित्य) अनात्मा (अनित्य) का विवेक हुए बिना कोई भी अन्य साधन जीव को कर्ता एवं भोक्तापन के अभिमान द्वारा उसे और बन्धन में ही डाल देगा । बिना विवेक के अन्य साधनों द्वारा जीव का देह अभिमान और अधिक वृद्धि को प्राप्त हो जाता है । जैसे कि -

मैं त्यागी हूँ, सब मेरा मान करें, मुझे महापुरुष भगवान का अवतार कहें, मुझे माला चढ़ावें, मेरे पैर छूवे, मेरी जूठन खावें इत्यादि ।

यह सब उपरोक्त वासना अविवेक के कारण जीव को पतन के मार्ग में ले जाते हैं । अभिमान के सिंहासन पर आरूढ़ अज्ञानी जीव को अपने पतन एवं बन्धन रूप कर्मों का पता तक नहीं चलता । जीव जब पूरा-पूरा फंस जाता है तब होश आता है, और पछताता है । फिर कभी काल को, कभी कर्म को, कभी भाग्य को व कभी ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है । यदि ऐसे अविवेकी को अगर कोई सदुपदेश करे तो वह अहंकार के कारण सुनता भी नहीं है, क्योंकि उसे यह घमण्ड होता है कि मैं तो ब्रह्मचारी, संन्यासी, तपस्वी, त्यागी हूँ, मुझे किसी गुरु की शरण लेने की क्या जरुरत है । जो संसारी अज्ञानी है वही उनकी शरण में जाएं ।

'बनने चले थे चौबेजी से छब्बेजी, तो अभिमान ने ऐसा धर दबाया कि रह गये बेचारे दुबेजी ।' अर्थात् गये थे घर से बिल्ली को बाहर फेंकने, इतने में ऊंट आकर आँगन में मर बैठा ।

किसी कृपण के घर में बिल्ली मरगई तो उसने सोचा जब किसी के घर में कोई मर जाता है तो वे ब्राह्मण को स्वर्ण बिल्ली बनावाकर दान करते हैं । मैं प्रातःकाल शीघ्र उठकर इस बिल्ली को टोकरी में रख गावँ बाहर फेंक आऊँ तो किसी को पता नहीं चलेगा और मुझे स्वर्ण की बिल्ली दान भी नहीं करना पड़ेगा । जब वह प्रातःकाल ग्राम के लोगों के उठने से पूर्व बिल्ली फेंक कर लौटा तो घर के आंगन में ऊँट मरा पड़ा देखा । अब उसे तो उठाकर फेंकना उस व्यक्ति के साहस से बाहर होगया ।

जो विवेक-विचार बिना देहाभिमान को दूर करने हेतु त्याग करते हैं, उन्हें समस्त त्याग करने का अभिमान मन में आ बैठता है, जो ऊंट की तरह विशाल काया वाला है । बिल्ली रूपी गृहस्थी जीवन का त्याग करना तो सरल है परन्तु ऊंट रूपी महात्मा, त्यागी, सन्यासी पने का अभिमान का त्याग करना ही मुख्य त्याग है । अगर त्याग का अहंकार मन में घुस गया तो फिर त्याग हुआ ही कहा, बल्कि वह तो एक नया अभिमान मन में बैठ गया । अस्तु ! अभिमान त्यागने हेतु क्रियाओं में कर्तापन का मिथ्या अहंकार का त्याग ही मुख्य साधन है । केवल बाह्य वेष धारण द्वारा अथवा सकाम जप, तपादि अन्य साधनों से अहंता-ममता रूपी बन्धन की निवृत्ति नहीं हो सकती । उसके लिये विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता इन चार साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये । फिर उनके उपदेशानुसार आत्मा-अनात्मा के विचार द्वारा उत्पन्न हुए स्वरूप ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो सकेगी । 'मैं आत्मा हूँ' इस निश्चय द्वारा अहंता-ममता रूपी शत्रुओं का युक्ति पूर्वक नाश करना चाहिए । अतः उसके लिए देहादिक के कार्य तथा स्वरूप को जानना आवश्यक है ।

यह देह जिसे 'मैं' कहकर सम्बोधित करता हूँ, यह मैं नहीं हूँ, और यह मेरा कार्य भी नहीं है । यह पंच महाभूतों का कार्य है, इसलिये अनात्मा एवं दृश्य है । यह वेद का सिद्धान्त है कि द्रष्टा से सदैव दृश्य भिन्न होता है । जैसे घट से घट का देखनेवाला भिन्न रहता है, उसी तरह यह शरीर दृश्य से मैं इसका जानने वाला द्रष्टा भिन्न हूँ । यह देह जड़, विकारी, मलिन, क्रियावान एवं संगवान् है, किन्तु मैं (आत्मा) शुद्ध निष्क्रिय, असंग, निर्लेप तथा निर्मल हूँ, इसलिए मैं देह नहीं हूँ । जब यह सिद्ध हो गया कि मैं देह नहीं हूँ तो देह में कल्पित नाम, रूप, जाति, आश्रम तथा बाल, युवा, वृद्धा, छोटा–बड़ा, मोटा–दुबला, काला–गौरा और भी जितने शरीर के धर्म है वे सब मुझ आत्मा के नहीं है । ऐसे विचार द्वारा ही देहात्म बुद्धि नष्ट होकर ज्ञानोदय होता है एवं अहंता–ममता दूर होकर मोक्ष आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है ।

देह का नाम राम, श्याम, उमा, रमा, रेखा आदि रखा जाता है, यह केवल व्यवहार की सरलता हेतु रखा जाता है, ताकि इच्छित व्यक्ति ही बुलाने पर आ–जा सके, काम कर सके । देखा जाता है कि जो नाम लड़के का है, वही नौकर का है तो, मालिक नोकर का नाम बदल देते हैं, किन्तु नाम बदलने से नोकर के शरीर एवं स्वभाव में कोई बदलाहट नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि नाम व्यवहार सिद्धि के हेतु है । अधिकांश एक घर में एक नाम की दो बहु आ जाने पर छोटी बहु का नाम बदल दिया जाता है, यह सबको विदित ही है । कोई आपसे पूछता है आप कौन हैं ? तो आप बना विचार किए कह देते हैं कि मैं रामलाल हूँ, मोहनलाल हूँ । किन्तु विचार कीजिए कि यह आपका नाम आपके जन्म के साथ आया था, अथवा दस–बारह दिन बाद, किसी पण्डित द्वारा किसी शब्द के संकेत पाने पर घरवालों ने बहुमत लेकर रखा था ? तब फिर आप वह नाम वाले कैसे हुए ? वह तो आपका नहीं है, घर वालों का दिया हुआ नाम है, एवं

स्थूल देह की पहचान हेतु रखा है, आवश्यकता पर बदला भी जा सकता है । अत: यह स्थूल देह के नामवाले आप कैसे हो सकते हैं ? यदि सारे शरीर के अंगों को छू-छूकर देखे तो जो आप अपना नाम बताते हैं वह कहीं भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे । क्योंकि जहाँ भी हाथ द्वारा शरीर का निरीक्षण करेंगे, आपके बताये नाम को खोजेंगे तो वहाँ आपके हाथ, कान, नाक, आँख, मुंह, गाल, ओंठ, सिर, बाल, पेट, पीठ, टांग, पंजा, जांघ, उपस्थ आदि अंग ही प्रतीत होंगे । आपके नाम का कहीं पता ही नहीं चलेगा । जब देह में, देह का नाम ही सिद्ध नहीं होता है, तब देह से भिन्न मैं आत्मा शान्ता, राधा, मोहनादि नाम वाला कैसे सिद्ध हो सकुँगा ? अतः यह नाम व्यवहार सिद्धि हेतु, स्थूल देह का है न कि मुझ आत्मा का । यह स्थूल देह मेरा नहीं है और न मैं यह स्थूल देह ही हूँ, तब फिर उसका अभिमान करना अज्ञान ही तो होगा । अतः विवेक द्वारा स्थूल देह से अहंता-ममता का त्याग करना ही मुक्त होने का मुख्य साधन है ।

जिस प्रकार देह में नाम की सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार देह में हिन्दु, ब्राह्मणादि जाति की भी सिद्धि नहीं होती है । तब मुझ आत्मा में जाति का होना कैसे सम्भव हो सकेगा ? अर्थात् मैं आत्मा असंग हूँ, मुझ में कोई जाति नहीं है ।

धर्मशाला तो छोड़ना ही होगा

मानव शरीर एक धर्मशाला है, जिसमें जीव अपने पूर्व किये शुभाशुभ प्रारब्ध कर्मों को भोग करने हेतु आता है । अपने कल्याणकारी साधन कर मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है । अनादि से आज तक इस शरीर को कोई भी अज्ञानी, ज्ञानी, सन्त, अवतारादि स्थायी घर नहीं बना सके । साठ हजार वर्ष तपस्या कर शरीर को अमृत बनाने की इच्छा वाला राजा हिरण्यकश्यप भी नृसिंह अवतार द्वारा मारा गया । अतः इस शरीर को एक धर्मशाला की तरह ही जाने । धर्मशाला उसी स्थान को कहते है, जिसमें लोग कुछ काल ठहर कर अपनी यात्रा पर चले जाते हैं ।

एक व्यक्ति ने विवाह कार्य हेतु नगर की पंचायती धर्मशाला कुछ दिन के लिये माँगली । किन्तु उसमें विवाह-आदि कार्य न कर वह उसे अपने मकान की तरह उपयोग करने लगा । वह स्थान अधिक सुख सुविधा वाला था, इसलिये वह व्यक्ति उस धर्मशाला से निकलना नहीं चाहता था । तब पंचों ने पुलिस थाना में रिपोर्ट लिखवाई एवं न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया, तब वह झूठा व्यक्ति न्यायाधीश के सम्मुख अपने को मकान मालिक प्रमाणित न कर पाने के कारण जेल जाना पड़ा । पंचों ने धर्मशाला की वसीयत सम्बन्धी सरकारी कागजात (रजिस्ट्री) न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत कर धर्मशाला को अपने आधीन साधिकार कर लिया । इस द्रष्टान्त में सिद्धान्त यह है कि मुक्ति जैसे बड़े कार्य हेतु जीव ने इस उत्तम मानव देह को प्राप्त करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना की ।

''साधन धाम मोक्ष कर द्वारा'' – रामायण

तब परमात्मा के आदेश से माया ने पंचभूतात्मक मानव शरीर की रचना कर उसे मुक्ति प्राप्त करने योग्य बना जीव को सोंप दिया । जीव को मानव शरीर मिलने पर भी उसने उसमें रहकर मोक्ष रूप अपना शुभ कार्य तो नहीं किया, किन्तु धर्मशाला रूप मानव जीवन में के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धादि पंच विषयों की आसक्ति कर उन्हीं के भोगार्थ जीवन गुजारने लगा और माया से मांगे हुए मनुष्य शरीर को वह अपना ही मान बैठा । यह देख माया के पंच महाभूतों ने वेद शास्त्र आदि के द्वारा ललकारा कि यह शरीर तुम्हारा नहीं है, यह पंच महाभूतों का है । अरे मूर्ख ! तू हमारे द्वारा प्राप्त शरीर में अहंता ममता छोड़कर अपने कल्याण का साधन क्यों नहीं करता है ? फिर भी जीव उस चेतावनी पर ध्यान नहीं देता है और मुक्ति हेतु प्रयास नहीं करता है । जब पंचभूतों द्वारा उस शरीर रूप मकान को वापस मांगा तो भी जीव उस शरीर से अपना स्वामीत्व नहीं छोड़ता है । तब उन्होंने यमराज के न्यायालय में वाद प्रस्तुत करने हेतु कहा कि इस अज्ञानी जीव ने हमसे मोक्षार्थ यह शरीर मांगा था, किन्तु अब यह न तो अपना मोक्ष कार्य ही करता है और न यह खाली ही करता है । केवल पशुवत् विषयासक्ति में ही पड़ा जीवन नष्ट कर रहा है ।

न्यायाधीश यमराज ने जीव से पूछा कि इस माया द्वारा प्राप्त मोक्षार्थ मानव जीवन में तुम अहंता-ममता कैसे करते हो ? इस पर जीव ने कहा यह शरीर तो मेरा है, मैं इसमें कुछ भी करूँ, इसमें इन पंच महाभूतों का क्या पड़ा है ? यह सुन यमराज ने जीव से मानव देह के स्वामीत्व का प्रमाण मांगा । तब यह झूठा व्यक्ति कोई भी प्रमाण नहीं दे सका, लेकिन माया ने पंच महाभूतों को वेद पुराणों की साक्षी दिलाकर पंचभूतों से बने मनुष्य शरीर को अपना प्रमाणित करदिया । इस प्रकार जीव के हार जानेपर उसे यमराज ने मनुष्य शरीर से निकाल चौरासी लाख योनी के बन्धन में डालने की आज्ञा अपने सेवकों को दी ।

यह तन कर फल विषयन भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्तः दुःखदाई ।। – रामायण

इस प्रकार पंच महाभूतों का कार्य यह शरीर मुक्ति धन प्राप्त करने के लिये जीव को प्राप्त हुआ है । इसलिये इस शरीर को जीव अपना न मानकर धर्मशाला की तरह जान इसमें अहंता-ममता न करे । जीव को जब ऐसा विवेक जाग्रत हो जायेगा कि यह शरीर रूप धर्मशाला मैं नहीं हूँ और न यह मेरा ही है, तभी जीव को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी । अन्यथा अनादि से चले आ रहे, जन्म-मरण के कष्ट से अन्य किसी भी साधनों द्वारा कभी भी नहीं छूट सकेगा ।

देह में मोहित हुआ जीव अपने सच्चे द्रष्टा, साक्षी, असंग आत्म स्वरूप को भला कैसे पहचाने ? बचपन में तो कोई ज्ञान नहीं होता है, जवानी विषय भोग में रुचि रख उसे नष्ट करदेता है । और वृद्धावस्था में तो अपना ही शरीर बोझ रूप हो अधमरा सा हो जाता है ।

अस्तु हे जीव ! तू आत्मा की कीमत कर एवं अन्य बाह्य वैभव, ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, परिवार बढ़ाने से अपनी महान मत मान । इन बाहरी नश्वर वस्तुओं का बढ़ने व घटने से तुझ अमृत, अखण्ड आत्मा में न कोई वृद्धि होने वाली है न कुछ हानि होने वाली है । इन बाहरी वस्तुओं को केवल जीवन उपयोगी ही जान और अपने आत्म स्वरूप को ही महान श्रेष्ठ जान इसी में सोऽहम् भाव जाग्रत कर । दूसरे के धन, वैभव को देख न ईर्षा कर न अपने को दरिद्र जान ।

संसार भ्रमण कब तक

यदि हमें अन्धकार का अनुभव नहीं तब हम प्रकाश को कैसे पहचानेंगे ? दुःख का हमे यदि अनुभव नहीं तब हम सुख को कैसे पहचान सकेंगे ? अपमान का यदि हमें अनुभव नहीं तब हम सम्मान को और बन्धन का यदि हमें अनुभव नहीं तब हम मुक्ति को कैसे जान सकेंगे ? प्राय: लोग मुक्ति की इच्छा करते हैं, तथा सन्तों से जाकर वे यही जानना चाहते हैं कि स्वामीजी ! हमारी मुक्ति कैसे होगी ? किन्तु बन्धन क्या है ? उन्हें यह नहीं मालूम होने तक मुक्ति की अनुभूति भी उन्हे नहीं हो सकेगी ।

द्वै पदे बन्ध मोक्षाय निर्ममेति ममेति च,
ममेति बध्यते जन्तुः निर्ममेति विमुच्यते ।

– बराह उप. २/४३

मैं यह नाम, जाति, आश्रम वाला शरीर हूँ एवं शरीर के सम्बन्धी मेरे हैं, यही जीव का अनादि कालिन संसार बन्धन है । अपने आपको यथार्थ न जानने के कारण ही यह जीव जन्म-मरण के बन्धन में अनादि से बन्धा हुआ, चार प्रकार के मार्गों से जन्म लेकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है ।

आकर चार लक्ष्य चौरासी,
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।

यह नाम, रूप, जाति वाला देह में नहीं हूँ तथा इसके सम्बन्धी मेरे नहीं हैं, मैं तो इस देह का द्रष्टा, साक्षी, आत्मा इससे न्यारा हूँ, यदि जीव को ऐसा निश्चय हो जावे तब तो यह मुक्त है । देह पुराने वस्त्र की तरह है, जो

पहनने वाले पुरुष द्वारा बारम्बार बदला जाता है । उसी प्रकार यह जीव भी अनादि काल से इस देह रूपी वस्त्र को बदलता रहता है । जैसे घर में रहने वाला घर से पृथक् होता है, उसी प्रकार यह शरीर में रहने वाला स्थित जीवात्मा शरीर से अलग है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। – २/२२ गीता

अस्तु ! देहाभिमान का त्याग कर आत्मानुभूति हो जाना ही मुक्ति है । इससे पृथक् मुक्ति नाम का कोई भिन्न पदार्थ किसी अन्य लोक में नहीं, जिसके लिये कुछ कर्म साधन करना पड़े । साधन से तो वह वस्तु प्राप्त होती है, जो प्राप्त कर्ता से पृथक हो । यदि वह वस्तु प्राप्त कर्ता का अपना स्वरूप ही हो तो उसे खोजना, ढूंढना नहीं अपितु जानना मात्र ही साधन है । जैसे मृग को नाभि स्थित कस्तूरी के लिये ढूंढने हेतु कहीं जाने की जरूरत नहीं केवल अपने प्रति जागने, जानने की ही आवश्यकता है ।

मैं-मेरे के भाव से बन्धन तथा न मैं, न मेरा भाव से ही मुक्ति है । मैं-मेरा भाव बाह्य जड़ कर्मों द्वारा नष्ट नहीं होता, बल्कि और पुष्ट होता रहता है । जैसे वृक्ष को नष्ट करने के लिये उसकी डाली, शाखा, प्रतिशाखा, कलम करने से वह उत्तरोत्तर घना ही होता है । इसी प्रकार संसार बन्धन को नाश करने की आशा में अज्ञानी जीव द्वारा जितने भी कर्म किये जाते हैं, उतना ही उसका बन्धन उन कर्मों द्वारा वृद्धि को ही प्राप्त होता है । जैसे कोई व्यक्ति यदि किसी वस्तु को किसी को दान करता है तो **मैं दानी हूँ**, वह यदि त्याग करता है तो मैं त्यागी हूँ । योग, तप, ध्यान करता है, तो **मैं योगी, तपस्वी, ध्यानी, मौनी आदि हूँ** ऐसा मिथ्या देहाभिमान, कर्माभिमान होने से मैं-मेरा भाव की जड़ें और गहरी होती चली जाती है ।

अस्तु ! मैं-मेरा का अभिमान बाह्य जड़ कर्मों से कदापि निवृत्त नहीं हो सकता एवं जब तक मैं-मेरा भाव बना रहेगा, जीव संसार चक्र में भ्रमित होता ही रहेगा । संसार बन्धन से मुक्ति पाने हेतु सत्संग करना होगा । सत्संग से आत्मा-अनात्मा, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य का विवेक जाग्रत हो जाता है । अनात्मा, जड़, अनित्य तथा दुःख रूप शरीर से लेकर ब्रह्मादिक लोक भोग की वासनाओं से वैराग्य हो जाता है । तब सच्चिदानन्द निज स्वरूप में मन की एकाग्रता हो, परमानन्द की अनुभूति हो जाती है । बिना आत्म बोध हुए देहाभिमान घटता नहीं उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है ।

देहाभिमान घटाने के नाम पर जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, व्रत, दानादि जो भी साधन साधकों द्वारा किये जाते हैं उनमें से देहाभिमान निवर्तक एक भी उपयोगी नहीं जान पड़ता । इन साधनों द्वारा आत्मा-अनात्मा का भेद ज्ञान नहीं हो पाता है । मिथ्या अभिमान जन्म से मृत्यु तक, जाग्रत से स्वप्न तक, जीव को होते ही रहते हैं । जैसे जिस जाति में जन्मा उस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्रादि जाति का अभिमान, जिस आश्रम में रहता है उस ब्रह्मचारी, ग्रहस्थी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी आदि आश्रमों का अभिमान होता है । जिस इंजीनीयर, डाक्टर, मास्टर, प्राफेसर, सुप्रिन्टेन्डेन्ट, मजिस्ट्रेट, कलेक्टर, मन्त्री आदि पदों को प्राप्त करता है, उन पदों का अभिमान करता रहता है । बल्कि उस सेवाकार्य से मुक्त हो जाने पर भी वह अपने को भूतपूर्व मन्त्री, कलेक्टर, मजीष्ट्रेट आदि का मिथ्या अभिमान मन में करता है । जिस सम्प्रदाय की शरण लेता है उस मार्ग पर चलने का अभिमान हो जाता है कि मैं तो योगमार्गी, भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी, द्वैतवादी, अद्वैतवादी हूँ । इस प्रकार अविवेक जन्य, सभी कर्म जीव के अभिमान को बढ़ाने वाले ही होते हैं ।

अस्तु ! सभी अभिमानों का नाश विवेक द्वारा ही हो सकता है । विवेक एवं विचार सद्गुरु की कृपा से श्रद्धा पूर्वक शरणागति प्राप्त करने पर

ही जाग्रत होता है, करोड़ों जड़ कर्मो से नहीं । जीव को जब तक आत्म निश्चय नहीं होगा उसका संसार भ्रमण भी समाप्त नहीं हो सकेगा । अस्तु ! देहाभिमान ही जीव के संसार भ्रमण का एवं आत्म निश्चय ही मुक्ति का एकमात्र हेतु है ।

'ज्ञानादेव तु केवल्यम्'

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यते ऽयनाय

– ६/१५ श्वेता, उप.

इस दुःख रूप संसार से मुक्त होने के लिये हृदय स्थित, सर्व साक्षी, सर्व द्रष्टा निजात्म स्वरूप को ही सोऽहम् रूप से जानना होगा । इसके अतिरिक्त मुक्ति पाने का कोई अन्य स्वतन्त्र मार्ग नहीं है । मुक्ति प्राप्ति तो एकमात्र ज्ञान द्वारा ही होती है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

– गीता : ३/२७

समस्त कर्म प्रकृति के पांच भूत, तीन गुण द्वारा स्वतः होते रहते है किन्तु अज्ञानी व्यक्ति देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मनादिके कार्यों को अपना मानने के कारण बन्धन को प्राप्त होता है ।

यस्यनाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमां ल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

– गीता : १८/१७

गुरु कृपा से जिस ज्ञानी ने यह जान लिया है कि समस्त कर्म इन्द्रियों के द्वारा होते हैं मैं तो मात्र उनका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा उन से असंग हूँ, ऐसा जानने वाला कभी कर्मों में कर्तापन का तथा भोगों में भोक्तापने का अहंकार नहीं करता है बल्कि अपने को सर्वदा साक्षी जानने के कारण संसार के कर्म उसे बन्धन रूप नहीं होते हैं ।

आत्मानात्मविवेकः कर्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा ।
तेनैवानन्दी भवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ।।

– वि.चुडा. १५४

संसार बन्धन से छुटकारा पाने के लिये शास्त्र ज्ञाता महापुरुष द्वारा आत्मा–अनात्मा का स्पष्ट बोध किया जाना चाहिये । क्योंकि देहात्मबुद्धि ही मिथ्या निश्चय कराने वाली होने से जीव को जन्मादि दुःखों की उत्पत्ति का कारण है । अतः साधक द्वार देह से मैं भाव एवं देहादिकों से मेरा भाव छूट जाने पर पुनः जन्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

इस प्रकार आत्मनिष्ठावान् की जहाँ भी दृष्टि जाती है वह समाधिस्थ ही रहता है । उसे समाधि हेतु एकान्त देश में जाकर नेत्रादि इन्द्रियों को रोककर ध्यानादि करने की जरूरत नहीं रहती है ।

सभी नाम कल्पित

संसार की सभी वस्तुओं के जो-जो नामकरण किये गये हैं वे सब नाम वस्तुओं के आदान-प्रदान एवं व्यक्ति व्यवहार चलाने हेतु सृष्टि के आदि से कल्पित किये गए हैं । उन नामों की यथार्थ रूप से कुछ भी सत्ता नहीं है । यदि सृष्टि के प्रारम्भ से खिचड़ी का नाम टट्टी रखा होता, तो आज हम उसी नाम को बिना घृणा के कहते कि आज टट्टी खिलाओं पेट ठीक नहीं है । इसी प्रकार टट्टी का नाम कढ़ी होता तो हम डाक्टर से कहते कि कढ़ी बन्द होने कि दवा दीजिए बहुत कढ़ी हो रही है ।

एक गुरुभक्त ने आश्रम पहुँच सन्त को अपने घर भोजन कराने हेतु प्रार्थना की । सन्त उसके साथ उसके गाँव चलने को प्रस्तुत हुए । गुरुजी को रास्ते में चलते-चलते थकान एवं धूप का अनुभव हुआ । तब शिष्य ने गुरुदेव से प्रार्थना की कि स्वामीजी ! आप चलते-चलते थक गए हैं एवं ऊपर से कड़ी धूप भी हो रही है, अच्छा हो कि हम मोटर में बैठ चलें । सन्त ने कहा तुम्हारी बात तो यथार्थ है, किन्तु कहाँ है मोटर ? मुझे तो मोटर जैसी वस्तु प्रतीत नहीं हो रही है । शिष्य ने कहा - वह जो सामने घुल उड़ाती हुई आ रही है । सन्त ने कहा यदि वह मोटर नहीं हुई तो ? शिष्य ने कहा - फिर आप मेरे मुख पर एक थप्पड़ लगाना । दोनों की आपस में बहस चल रही थी कि शिष्य ने मोटर को समीप आता देख कहा - देखा ! मैंने ठीक ही कहा था न ? देखिये यह मोटर आ रही है, मैं हाथ दिखाकर अभी रुकवाता हूँ फिर हम शीघ्र घर पहुँच जावेंगे ।

सन्त ने कहा – अरे भाई । अभी भी मुझे तेरी मोटर तो कहीं भी नहीं दिखाई दे रही है । शिष्य ने ड्रायवर को रुकने का संकेत कर मोटर रुकवादी और उसे छूकर कहा स्वामीजी ! यह मोटर ही तो है । सन्त ने कहा यह तो दरवाजा है, मोटर कहाँ है ? शिष्य बारम्बार हाथ अलग-अलग स्थान पर रखता जाता था एवं सन्त बारम्बार कहते जाते थे यह मोटर कहाँ ? यह तो पहिया, बोनट, शीशा, स्टेरिंग, सीट, फर्श, छतादि है । इस प्रकार शिष्य मोटर के जिस भाग पर हाथ रखता था, उसका अपना पृथक् नाम होने से मोटर का होना कहीं भी सिद्ध नहीं हुआ । तब शिष्य ने कहा – स्वामीजी ! मैं हारा आप जीते । अब आप मेरे मुख पर एक थप्पड़ लगाइये । सन्त ने कहा– कहाँ है तेरा मुख जिस पर थप्पड़ लगाऊँ ? तब शिष्य ने कहा – स्वामीजी ! बड़े आश्चर्य की बात आप करते हैं, भला मोटर सिद्ध न हुई तो कोई बात नहीं, किन्तु मेरा मुख तो आपके प्रत्यक्ष ही है । आप मेरे मुख की ओर देखकर ही तो मेरे से बात कर रहे हैं न ? सन्त ने कहा – भाई मुझे तो तेरा मुख दिखाई नही पड़ रहा है, कि जहाँ पर थप्पड़ मारा जावे । शिष्य ने हाथ लगाकर कहा– यह रहा मेरा मुख, इस पर थाप्पड़ लगाइये । सन्त ने हाथ लगाकर कहा – पगले यह तो तेरा गाल है ? यह तो तेरे ओंठ है, यह तो तेरी नाक है, यह तेरा कान है, यह तो तेरी आँख है, यह तो कपाल है, यह तो तेरी गर्दन तथा सिर है । बता तेरा मुख किस स्थान पर है जहाँ मैं थप्पड़ लगाऊ ? फिर उसने ओंठों को खोल दर्शाते हुए कहा अब यह तो मेरा मुख मानेंगे ? संतने कहा – यहाँ तो दांत है, जिह्वा है यहाँ कैसे थप्पड़ मारा जा सकेगा ? हे प्रिय ! इस प्रकार दृश्य संसार के सभी नाम कल्पित हैं । जैसे –

यदि आपसे कोई अपना परिचय पूछता है कि आपका नाम क्या है ? तब आप अपने शरीर के नाम को अपना नाम बता देते हैं कि मेरा नाम प्रमिला मेहता, उर्मिला, शान्ता, कान्ता, मदन, सदनादि है । अच्छा यह

प्रमिला मेहता का नाम तो शादी के पूर्व नहीं था, तब आप अपने को प्रमिला खारा कहती थी । फिर यह प्रमिला खारा नाम भी जन्म के समय नहीं था । यह तो नामकरण संस्कार के समय पण्डित द्वारा राशि बताने पर माता-पिता द्वारा रखा गया था । फिर नामकरण संस्कार पर माता-पिता ने आपके नाम रखने के लिए आपसे अनुमति भी प्राप्त नहीं की थी । इस प्रकार यह आपका प्रमिला नाम कल्पित हुआ । यदि आप से पूछें कि आप के किस अवयव का नाम प्रमिला है, मैं देखना चाहूँगा कि प्रमिला कहाँ और केसी है ? तो आप अपने शरीर के किसी भी स्थान पर अंगुली रखकर बतलावेंगी, तो वहाँ प्रमिला नहीं मिलेगी, बल्कि उस अवयव का भी कोई कल्पित नाम - नाक, मुँह, सिर, कान, गला, छाती, हाथ, पैर, जांघ आदि होगा किन्तु पैर के अंगुठे से लेकर चोटी पर्यन्त प्रमिला प्रत्यक्ष देखने को कहीं नहीं मिल सकेगी । अतः इस प्रकार सभी नामों को असत् जानो ।

हे आत्मन् ! तुम्हारा यह शरीर न पहले था न मृत्यु के बाद रहेगा । मरने पर यह शरीर इसके अपने कारण पंच भूतों में पुनः विलीन हो जावेगा । तुम इस देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादिके किये कर्मों में मिथ्या कर्तृत्वाभिमान के कारण उन कर्मों का शुभाशुभ फल भोगने इस शरीर को त्याग फिर अन्य शरीर में चले जाते हो । अतः तुम शरीर नहीं हो ।

हे आत्मन् ! यदि तुम कहो कि यह शरीर मैं हूँ - क्योंकि इसके अंग प्रत्यंग, हाथ-पावँ, मुख, नाक, सिर आदि सब अंग मेरे हैं । इस कथनसे भी आप शरीर से भिन्न आत्मा ही सिद्ध होते हैं । जैसे यह मेरा घर है, यह मेरी मोटर है, यह मेरा पलंग है, यह मेरी घड़ी है, यह मेरी माँ है, यह मेरे बाबुजी है, यह मेरा पति है, यह मेरा बेटा है, यह मेरी बेटी है । इस प्रकार दृश्य वस्तुको मेरा बताने वाले आप इन समस्त दृश्यों से न्यारे ही सिद्ध होते हैं । अतः जो-जो मेरा होता है वह मैं नहीं हूँ । जैसे मकान मेरा है किन्तु मैं

मकान नहीं हूँ, कुत्ता मेरा है किन्तु मैं कुत्ता नहीं हूँ । इस प्रकार देह मेरा होने पर भी मैं देह नहीं हूँ । जैसे मकान में रहने वाला मकान से न्यारा होता है, इस प्रकार देह में रहने वाला तू आत्मा भी देह से पृथक ही है । अस्तु ! शरीर से आत्मा को भिन्न मानकर शरीराभिमान को विचार के द्वारा नष्ट करते ही नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम तथा जन्म-मृत्यु का अभिमान भी नष्ट हो जावेगा । आत्मनिष्ठा द्वारा अनादि अज्ञान कृत बन्धन से जीवन मुक्ति तथा प्रारब्ध भोग समाप्ति पर विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

कभी आप मुम्बई गये होंगे, दिल्ली गये होंगे, कभी ट्रेन से गये होंगे, कभी हवाई जहाज में गये होंगे । फिर उस समय यात्रा अन्तर्गत कोई विशेष घटना हुई होगी तो उसे स्मरणकर कहते हैं कि जब मैं दिल्ली में था, जब मैं मुम्बई में था, जब मैं ट्रेन में था, जब मैं हवाई जहाज में था तब ऐसा मेरे पेट में दर्द हुआथा । यह कथन ठीक है । तब आप यह भूल से भी नहीं कहते हैं कि जब मैं दिल्ली था, जब मैं मुम्बई था, या जब मैं ट्रेन था, जब मैं हवाई जहाज था । तब आप ऐसा क्यों कहते हैं कि जब मैं बच्चा था, जब मैं जवान था, जब मैं प्रोढ़ था, बल्कि ऐसा कहना चाहिये कि जब मैं बचपन में था, जब मैं जवानी में था, जब मैं प्रोढ़ अवस्था में था । व्यवहार में भी तो हम यही कहते हैं कि मैं खेल के मैदान में था, सिनेमा में था, बगीचे में था । किन्तु मैं मैदान था, मैं सिनेमा था, ऐसा तो नहीं कहते । जैसे घोड़े का सवार, कार का सवार, ट्रेन का सवार, घोड़े से, कार से, ट्रेन से पृथक् है इसी प्रकार देह में सवार जीवात्मा देह से पृथक् है ।

जीव का कर्म चक्र

अनादि काल से संसार का प्राणी तीन प्रकार के कर्माधीन होने से जन्म-मरण को प्राप्त होता चला आ रहा है एवं जबतक जीव को आत्मज्ञान नहीं होगा तबतक यह इसी प्रकार ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण का असहनीय दुःख भोगता रहेगा ।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं ।

१- संचित् कर्म

२- क्रियमाण कर्म

३- प्रारब्ध कर्म

संचित् कर्म : जीव द्वारा अनेक जन्मों में किये हुए शुभ-अशुभ कर्म जिनका फल अभी तक उसने भोगा नहीं है किन्तु संस्कार रूप अज्ञान कारण शरीर में बीज रूप से जमा पड़े हैं, उन्हें संचित कर्म कहते हैं ।

क्रियमाण कर्म : वर्तमान शरीर से भविष्य में फल प्राप्ति हेतु जो कुछ नित्य, नैमेत्तिक कर्म सम्पन्न होते हैं, उन्हें क्रियमाण अथवा आगामि कर्म कहते हैं ।

प्रारब्ध कर्म : संचित् कर्मों में से जब जो कर्म फल देने में समर्थ हो जाते हैं तब उन्हें भोगने हेतु जीव को वर्तमान शरीर धारण कर सुख-दुःख रूप जो फल भोगना पड़ता है उसे प्रारब्ध कर्म भोग कहते हैं । जब प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाता है तब देह पात हो जाता है । यदि जीव को आत्मज्ञान नहीं हुआ तो उन्हीं पूर्व संचित् कर्मों में से कोई कर्म फल देने को प्रस्तुत हो

जाने से कर्मफल स्वरूप पुनः अन्य शरीर धारण करना पड़ता है । प्रारब्ध कर्म ही एक ऐसा कर्म है जो बिना भोगे अन्य किसी साधन से समाप्त नहीं होता है । ज्ञानी, अज्ञानी अवतारादि सभी को भोगना ही पड़ता है । क्योंकि प्रारब्ध कर्म यदि शेष न रहता इसके बिना नूतन शरीर निर्माण ही नहीं हो सकेगा । ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध भोग समाप्त हुए बिना शरीर का नाश नहीं होता है । जब जीव एक शरीर का फल भोगने आता है तब वह उसमें १०० जन्मों के नये कर्म को करके चला जाता है । इस प्रकार प्रत्येक जन्म में ९९ जन्मों के भोग बाकी संचित् रह जाते हैं और वे इसी क्रम से प्रति जन्म बढ़ते रहते हैं ।

संचित् तथा क्रियमाण इन दो कर्मों की निवृत्ति आत्म ज्ञान लाभ करने से हो जाती है । जब तक आत्म ज्ञान लाभ न किया जायगा तब तक देहाभिमानी इसी प्रकार प्रत्येक जीव जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा । बिना आत्मज्ञान जीव का मोक्ष किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता, यह वेद का अकाट्य सिद्धान्त है । गीता में भगवान अर्जुन को ज्ञान का महात्म्य बता रहे हैं -

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरूतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्व कर्माणि भस्मसात्कृरूते तथा ।।

- गीता : ४-३७

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि समस्त काष्टादिक को जलाकर भस्म करदेती है, उसी प्रकार वेद के महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न ज्ञानाग्नि से अज्ञानी जीव के समस्त संचित् तथा क्रियमाण कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं ।

ज्ञान होने के बाद शेष रहे प्रारब्ध कर्म जीव द्वारा भोग कर समाप्त होने पर सदा के लिये वह मुक्त हो जाता है । ज्ञानी का जब प्रारब्ध कर्म भोग हेतु शरीर रहता है, तब तक वह उससे उसी तरह असंग रहता है जैसे कमल पत्र

जल में रहकर जल से असंग रहता है अर्थात् लिप्त नहीं होता । क्योंकि कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों प्रकार के जो कर्म होते हैं उसमें ज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता । इसलिये कर्म करते हुए भी द्रष्टा, साक्षी रूप ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म बीजों का साथ-साथ नाश होता रहता है । साक्षी भाव द्वारा की हुई क्रिया कर्म नहीं बनती है इसलिए वे कर्म जन्म-मरण का कारण नहीं बन पाते हैं । अतः जब तक प्रारब्धानुसार ज्ञानी का देह रहता है तब तक स्थूल शरीर में बैठा सूक्ष्म शरीर के द्वारा यह चिदाभास जीव भोग करता है और उन सबको मैं साक्षी आत्मा जानता रहता हूँ । ऐसे साक्षी भाव के अनुभव से ज्ञानी पुरुष जीवन मुक्त होते हैं ।

प्रारब्ध कर्म व ज्ञान का विरोध न होने से ज्ञान द्वारा समाप्त नहीं होता है, बल्कि भोगना ही पड़ता है । अगर अन्य किसी साधन से प्रारब्ध निवृत्त हो जाता तो युधिष्ठिर नल, हरिशचन्द्र, सीता, रामचन्द्रादि को घर, राज्य छोड़ कर जंगल में विचरण नहीं करना पड़ता ।

अगर ज्ञान होते ही संचित् तथा क्रियमाण कर्मवत् प्रारब्ध भी समाप्त हो जाता तो संसार में ज्ञान सम्प्रदाय एवं गुरु परम्परा का भी अभाव हो जाता । क्योंकि जब जिसको जैसे ज्ञान हुआ वैसे ही उसका शरीर भी गिर जाता, तब फिर अन्य जीवों को कैसे ज्ञान दिया जाता ? लेकिन ज्ञान हो जाने पर जीवन मुक्त के श्रेणी में पुकारे जाने वाले महापुरुष जनक, याज्ञवल्क्य, अष्टावक्र, ध्रुव, प्रहल्लाद, रामकृष्णादि अनेक सन्त शरीर में रहते हुए प्रारब्ध भोग तक ज्ञान उपेदश करते रहे हैं । नहीं तो वेदव्यास, शुकदेव, पराशर, उद्दालक आदि जो संसार को वेद शास्त्र, पुराणादि लिख लिख कर दे गये वह कहाँ से आते ? ज्ञान का उपेदश तो पूर्ण ज्ञानी ही कर सकता है और उपेदश करने हेतु ज्ञानी का शरीर होना जरूरी है एवं शरीर रहने हेतु प्रारब्ध का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना प्रारब्ध के देह की स्थिति असम्भव है । अत: ज्ञान प्रारब्ध का विरोधी सिद्ध नहीं होता है, बल्कि साधक ही है ।

वास्तव में देखा जावे तो ज्ञानी के लिये प्रारब्ध भी नहीं है । क्योंकि ज्ञानवान् पण्डित् उसी को कहते हैं जिसके लिये एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी शेष नहीं है । ज्ञानी के दृष्टि आत्म दृष्टि होती है किन्तु अज्ञानी की देह दृष्टि होती है । ज्ञानी वही जो अपने को आत्मा अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं देखता है और प्रारब्ध का सम्बन्ध देह से होता है । जब ज्ञानी अपने को हृदय से देह नहीं मानता है तब उसे प्रारब्ध किस प्रकार छू सकेगा ? कभी नहीं ।

ज्ञानाग्नि जब समस्त कर्म को दग्ध कर देती है तब प्रारब्ध कर्म शेष कैसे रह सकेगा ? प्रारब्ध शेष की बात तो उस अज्ञानी के प्रश्न का उत्तर है जो यह कहता है कि ज्ञान से मुक्ति हो जाती है तब ज्ञान होने के बाद यह ज्ञानी जीवित क्यों है ? उसका देह त्याग क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि अज्ञानी मुक्ति का अर्थ देहत्याग हो जाना मानते हैं । तब ऐसे मूढ़ को शान्त करने के लिये यह कहा जाता है कि ज्ञान होने से उसका देह त्याग हो जाना चाहिये किन्तु इसकी अभी लेशाविद्या बाकी है, जब वह समाप्त हो जायगी तब यह पैड़ से पके फल की तरह स्वयं गिर जावेगा । पका फल जैसे बिना प्रयास के पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी लेशाविद्या के नाश होने पर स्वयं कैवल्य, विदेहमुक्ति को प्राप्त हो जायगा ।

‘‘परधर्मो भयावहः’’

देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्त:करण के धर्म में अहंकार करने वाला जीव सदा जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है । ज्ञानी को अपने से भिन्न पदार्थ की इच्छा, वासना न होने से वह पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होता है । वह तो जले हुए बीज की तरह निर्बीज हो जाता है । उसका ज्ञान रूपी तेज से देह के प्रति अहंता-ममता रूपी अभिमान नाश होजाता है ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

– गीता : ८/६

वासना ही तो है जन्म का कारण । जिसको अन्तिम समय में जैसी वासना रहती है वैसी ही स्थिति उसको अगले जन्म में प्राप्त होती है । राजा पुरन्जन तथा जड़ भरत का उदाहरण शास्त्रों में प्रसिद्ध है । राजा पुरन्जन स्त्री आसक्ति के कारण स्त्री शरीर एवं योगी भरत हिरण के वच्चे में आसक्ति के कारण हिरण योनि में जन्म लेना पड़ा था । जीव को अन्तिम समय में वही स्मरण होता है, जिस विषय में उसको जीवन काल में विशेष आसक्ति होती है । उस समय वही वृत्ति प्रधान बनकर कागज पर चित्र की तरह मन में अंकित हो जाती है । फिर शरीर छूटकर किसी माँ के गर्भ में जाकर भावी शरीर हेतु ९-१० माह इन्तजार करना होता है ।

यदि जीव पुण्यवान होता है तो स्वर्ग सुख भोगकर फिर मनुष्य योनि में डाला जाता है और यदि वह पापी होता है तो नरक में डाला जाता है ।

स्वर्ग व नरक कोई भौगोलिक स्थिति नहीं है । स्वर्ग एवं नरक यह मानसिक स्थिति है । जीव का वर्तमान अतिशय सुखी जीवन स्वर्ग एवं अतिशय कष्टमय जीवन ही नरक रूप है । कुछ लोग नरक जीवन से निकल कुछ समय सत्संग, सद्गुरु के समीप, स्वर्ग का अनुभव करते हैं । किन्तु भोगासक्ति से फिर वे नरक में चले जाते हैं । कुछ स्वर्ग में ही रहजाते हैं वे फिर लौट नरक में नहीं आते एवं कुछ लोग नरक में पड़े रहते हैं । उन्हें जो जीवन मिलता है उसी में वे सूअर, कुत्ते, बाघ, भालू, कीट-पतंगादि में चले जाते हैं । निदान यही कि जीव सब प्रकार के जन्मों को धारण करता हुआ ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है । वास्तव में आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है, किन्तु आत्मा का ज्ञान न होने से अन्त:करण के संयोग से जीव उसके सब धर्मों को भ्रम से निज आत्म स्वरूप में देखता है । अगर मन को द्रष्टा भाव में स्थिर कर दिया तो कर्ता भाव नष्ट हो जावेगा एवं आत्म ही शेष रहेगा । मन जब तक आत्मा की ओर नहीं आता तब तक ही अपने संकल्प से समस्त वासना रूपी स्वप्न जगत् को देखता रहता है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमुढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। – गीता : ३/२७

देह के समस्त कर्म प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा होते रहते हैं किन्तु अपने को द्रष्टा साक्षी आत्मा रूप से न जानने वाला अज्ञानी अपने को देह इन्द्रिय के कर्मों का कर्ता मानकर भोक्ता होता है एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है । इसलिये भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को मुक्ति का सहज साधन बताते हैं कि सत्वगुण, रजोगुण के द्वारा तमोगुण रूप विषयों को भोग रहे हैं, किन्तु तू उनका असंग द्रष्टा मात्र है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

– गीता : १८/६६

अर्थात् जिस इन्द्रिय द्वारा जो विषय मन के द्वारा ग्रहण कियाजाता है उस मन को ही उस कर्म का कर्ता एवं फल का भोक्ता जानना चाहिये । इन्द्रियाँ तो न कर्ता है न भोक्ता है वे तो मात्र भोगने का द्वार है । जैसे भोजन करने के लिये हाथ, मुख, जीभ आदि साधन द्वार है किन्तु भोग्य वस्तु का आनन्द मन ही लेता है । अतः अपने को उस देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि का एकमात्र साक्षी, द्रष्टा ही जानना चाहिये । जैसे प्रत्येक व्यवहार में विषय ग्रहण करने के लिये कहा जाता है अरे ! तू खाकर तो **देख**, स्वाद लेकर तो **देख**, सुंघ कर तो **देख**, स्पर्श करके तो **देख**, सुनकर तो **देख**, पहनकर तो **देख** । इस प्रकार कथन में इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न, उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं किन्तु आप सब में एकमात्र देखनेवाले द्रष्टा ही रहते हैं ।

सब जीवों की अपनी-अपनी सृष्टि प्रतीत होती है एवं अपनी सृष्टि के कार्य भेद से वही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव उपाधियुक्त होता है, किन्तु निरूपाधिक वह केवल एकमात्र आत्मा ही है, अन्य कुछ भी नहीं है । देवता, दैत्य, नरक, स्वर्ग सब संकल्प से रचे हुए हैं । एक आत्मा को छोड़कर जो ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, दुर्गा, भवानी, अम्बा, काली आदि रूप दिखाई पड़ते हैं, सब मनोराज्य है । जैसे एक सागर में ही जल अनेक तरंगों, फेन, बुद्बुद रूप होता प्रतीत हो रह है इसी प्रकार यह समस्त देवी-देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जल स्थलादि दृष्टि गोचर हो रहे हैं ।

जैसे स्वप्न भ्रम रूप है वैसे ही यह समस्त दृश्य जगत् भ्रम रूप ही है । न कोई जीव है, न जगत् है न ईश्वर है केवल अज्ञान-अविद्या से मृग मरीचिका नीरवत् सब मिथ्या भासित हो रहा है । जैसे स्वप्न नगर में स्वप्न द्रष्टा ही स्वयं है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही जगत् रूप में स्थित है । उससे भिन्न जगत् कुछ अन्य वस्तु है ही नहीं तो दिखाई कहाँ से देगा ? जो दिखाई पड़ता है वह स्वप्नवत् अपना-अपना संकल्प मात्र ही है । यह जगत् आत्मा का ही चमत्कार है । इसलिये यह विश्व आत्म स्वरूप ही है ।

इस संसार में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धादि पांच तत्त्व ही है इनमें से जो भी ग्रहण करते हैं वह सब आत्मा ही समझे । जैसे स्वप्न के पदार्थ स्वप्नावस्था में तो सत्य ही प्रतीत होते हैं एवं उस काल में प्राप्ति-अप्राप्ति में सुख-दुःख भी होता है, किन्तु जाग्रत होते ही समस्त शोक, मोह, सुख-दुःख समाप्त हो जाते हैं एवं सब स्वप्नावस्था मिथ्या प्रतीत होती है । उसी प्रकार अज्ञान निद्राकाल में जाग्रत संसार के समस्त पदार्थ सत्य रूप से प्रतीत होते हैं, किन्तु ज्ञानोदय होते ही अज्ञान निद्रा भंग हो जाने से स्वप्नवत् समस्त जाग्रत के पदार्थ मिथ्या ही प्रतीत होने लग जाते हैं । जैसे स्वप्न काल में स्वप्न मिथ्या प्रतीत नहीं होता वैसे जाग्रत के पदार्थ भी अज्ञानावस्था में रहने से सत्य ही प्रतीत होते हैं । सम्यक् दृष्टि से सब आत्मा रूप है कुछ भिन्न नहीं है, किन्तु वही असम्यक् दृष्टि से विश्व रूप प्रतीत होता है, केवल दृष्टि का भेद है । जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि । किन्तु सम्यक् अथवा असम्यक् दोनों अवस्था में आत्मा तो ज्यों का त्यों असंग, अद्वितीय, अकर्ता, निष्क्रिय ही है ।

यह जीव आप ही ब्रह्म होता है, आप ही संसारी होता है । जब दृश्य की ओर फुरता है तब संसारी हो जाता है एवं अपने स्वरूप की और फुरता है तब अपने को ब्रह्म जानता है । अस्तु सभी को आत्म भावना रूपी दृष्टि ही होना चाहिये । जिससे सब ओर आत्मा ही, दिखाई देगी । व्यवहार में तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को जगत् समान ही प्रतीत होता है, एवं उपयोग में आता है, किन्तु परमार्थ से दूसरा कुछ हुआ ही नहीं । परमार्थ से तो यह केवल अद्वितीय निराकार आत्मा ही है । आत्मा में कुछ द्वैत नहीं है । मायारूप जगत् में मर्यादा है इसलिये पुण्य-पाप, ऊंच-नीच, अच्छा-बुरा, स्वर्ग-नरक की वेदों में व्यवस्था है ।

जो शास्त्र मर्यादा को त्याग कर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं ऐसे व्यक्ति लोक परलोक के भय को त्याग कर शास्त्र में निषेध किये कर्म को करते हैं,

ऐसे मनुष्य मरकर पत्थर, वृक्षादिक जड़ योनियों को प्राप्त होते हैं, और बहुत काल वहाँ पड़े दुःख भोगा करते हैं । फिर निगोद योनि में जाते हैं, जहाँ उनकी एक दिन में १० बार जन्म-मृत्यु होती रहती है, ऐसे जीवन को वे भोगा करते हैं । इस चित्त रूपी भूमि में जिस प्रकार का बीज बोया जाता है, वैसा ही समय पाकर वह अंकुरित हो जाता है । अगर सर्वत्र आत्म भावना से ओत-प्रोत जीवन हो गया है तो फिर आत्मा ही प्रतीत होगा ।
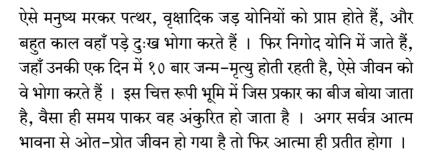
वास्तव में तो जीव अज्ञान से अपने को जन्मने-मरनेवाला देह मानता है । जीव न जन्मता है और न मरता है, न दुःखी होता है, न सुखी होता है, न कर्ता है और न वह भोक्ता है । वह सदा सच्चिदानन्द रूप ही है किन्तु स्वरूप प्रमाद से अपने आपको दुःखी-सुखी, कर्ता-भोक्ता, जन्मने-मरने, वाला ही जानता है । अज्ञान से ही माता-पिता द्वारा अपनी पैदाइश मानता है एवं अपने को वाल, युवा, वृद्धा तथा मृत्यु अवस्था वाला मानता है । बस यही अज्ञान जन्य देहाध्यास ही जीव के बन्धन का मूल कारण है । अनादिकाल से जीव ने देह में ही आत्म बुद्धि को दृढ़ कर लिया है एवं आत्मा को देह के गुण धर्मवाला भ्रम से मान रखा है । इस अज्ञान अन्धकार को समूल से नाश करने में एकमात्र ज्ञान ज्योति ही साधन है, तभी जीवात्मा का अविद्या जन्य देहाध्यास छूटकर अपने आत्म स्वरूप की प्रतीति हो सकेगी अन्यथा कोटि उपाय श्रम मात्र हो होंगे । इस आत्मा को मैं रूप में जाने बिना जीव कल्याण का कोई अन्य मार्ग ही नहीं है । जीव जब तक देह, इन्द्रिय प्राण, मनादि के धर्मों को अपना स्वरूप मानता रहेगा तब तक यह जन्म-मरण के भय को ही होता रहेगा ।

नाम, रूप, जाति देह को मैं मानने से जीव को करोड़ों गायों की हत्या से भी अधिक पाप लगता है । जिसके परिणाम स्वरूप इसे ८४ लाख योनियों में जाकर वहाँ के कष्ट भोगना पड़ता है । किन्तु आत्म निश्चय द्वारा जो पुण्योंदय होता है वह किसी तपस्या, तीर्थ, जप, पूजा, पाठ, मन्त्र द्वारा नहीं हो सकता ।

◈ ◈ ◈

ज्ञानोदय

जब माँ के गर्भ में बालक होता है तब उसकी गहरी निद्रा अवस्था होती है, उस समय उसमें भावी संस्कार विद्यामान रहते हैं, किन्तु वे उसी प्रकार नहीं दिखाई पड़ते हैं जैसे घर में रखे बीज में वृक्ष, डाल, पत्र प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि उसे उचित जल, प्रकाश, पवन एवं भूमि की प्राप्ति नहीं हुई है ।

जब बालक गर्भ से बाहर आता है तब कुछ समय व्यतीत हो जाने पर उसकी जड़ता निवृत्त हो जाती है एवं फिर वह अपनी गहरी नींद में रहता है । कुछ काल बीत जाने पर गहरी नींद भी समाप्त हो जाती है एवं अन्तकरण में, चेतना आने लगती है, तब उसे यह ज्ञान होने लगात है कि मैं यह हूँ, यह मेरे माता-पिता हैं, तब परिवार वाले उसे अपने-पराये का ज्ञान कराते हैं, और जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती है उसे धीरे-धीरे जीवन निर्वाह का संसारी ज्ञान भी देते रहते हैं ।

जब जीव समझदार हो जाता है तब उसे पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का बोध कराते हैं । तब उसे किन कर्मों से स्वर्ग और किन से नरक मिलता है यह अंतर समझ में आता है । इस प्रकार जप, तप, पूजा, पाठ करता हुआ अपने कुल के अनुसार और शास्त्रानुसार विचरने वाला जीव जगत् में धर्मात्मा कहलाता है ।

धर्मात्मा जीव दो प्रकार के होते हैं । **एक प्रवृत्ति मार्ग में चलने वाला तथा दूसरा निवृत्ति मार्ग में विचरने वाला ।** जो प्रवृत्ति मार्ग में चल रहा है उसके समस्त कर्म सकामता से ही होते हैं और उसके परिणाम

स्वरूप वह स्वर्ग लोक पर्यन्त फल भोग कर पुन: संसार चक्र में फंसता है, किन्तु वह मोक्ष के लिये चेष्टा नहीं करता है । उसकी दृष्टि में सांसारिक सुख ही मानव जीवन का लक्ष्य होता है ।

इस प्रकार वह दुर्लभ मनुष्य जीवन को विषय भोगों में नष्ट कर सुखे तृणवत् इधर-उधर नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता-फिरता दुःख को भोगा करता है । ईश्वर की कृपा से कब उसे पुन: मानव जन्म मिलेगा एवं किसी सद्गुरु के शरणापन्न होकर अपने को आत्मोन्मुख कर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं है ।

जो निवृत्ति मार्ग अनुसरण करने वाला है उसे विषय भोगों में सहज वैराग्य वृत्ति होती है एवं पूर्व संस्कारानुसार जगत् को मिथ्या ही समझने के कारण, वह उसमें नहीं फंसता है । बल्कि वह तो उससे उपराम होकर इस जन्म-मरण रूपी असहनीय दु:खों के पार आनन्द धाम, परम पद को प्राप्त करने हेतु जल विहीन मछली की तरह व्याकुल रहता है । उसे संसार का प्रत्येक दृश्य नश्वर, बन्धन एवं दुःख रूप ही दिखाई पड़ता है ।

प्रवृत्ति मार्गी मनुष्य का भौतिक ज्ञान एवं विज्ञान प्रतिक्षण वर्धमान तो होता रहता है किन्तु सदा अज्ञान से आच्छादित ही होता चला जाता हैं, जैसे जंग (काट) लगा लोह चुम्बक की ओर आकर्षित नहीं होता है उसी प्रकार वह पुरुष शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पाता है । वह मूढ़ सदा वासनाओं से ग्रसित एवं तत्त्वज्ञान से रहित हुआ निम्न योनियों में भटकता रहता है ।

निवृत्ति मार्ग वाला मनुष्य निष्काम कर्म करके प्रथम मल-दोष की हानि करता है फिर उसे विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है जिससे वह कहता है कि मुझे कर्मों से एवं उसके फलों से क्या प्रयोजन ? मुझे तो एकमात्र आत्म पद से ही प्रयोजन है । मैं अब संसार बन्धन से कब व कैसे मुक्त हो

सकूंगा ? बस उसका यही एकमात्र चिन्तन रहता है, और ज्ञान के शम, दम, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता श्रद्धा आदि जो साधन है उनको अपनाता है । वह सत् शात्रों का पठन-पाठन, सत्संग एवं सतचर्चा में ही तत्पर रहता है । वह निरन्तर ब्रह्म विद्या, आत्म विद्या का ही श्रवण, मनन, चिन्तन रूप अभ्यास करता है । इस प्रकार से उसकी बुद्धि निर्मल होती जाती है और संसार के विषय भोगों से मन उपराम होता चला जाता है ।

जैसे दरिद्र सदैव धन का, कामी सदा नारी का, वैसे ही मुमुक्षु सदा आत्म पद की प्राप्ति हेतु प्रयत्न एवं चिन्तन करता रहता है । वह कभी दुर्जनों की संगति नहीं करता है एवं विषयों को विष तुल्य परिणामी जान पूर्व से ही अरुचि उत्पन्न होने से त्याग देता है । वह सदा अमानी, अक्रोधी, अदम्भी ही होता है । इस प्रकार के शुभ गुणों से सम्पन्न हुआ आत्म पद में निरन्तर प्रीति बढ़ाते हुए जीवन व्यतीत करता है ।

जीव को जब आत्म ज्ञानोदय हो जाता है तब प्रारब्धानुसार उसमें यदि कोई प्रत्यक्ष क्रिया भी दिखाई पड़े तो भी वह उससे उसी तरह अलिप्त रहता है । जैसे जल में कमल पत्र रहते हुए भी जल से असंग ही बना रहता है । अथवा शुद्ध मणि में अन्य रंगो का प्रतिविम्ब पड़ने पर भी वह किसी रंग से लिप्त नहीं होती है वैसे ही ज्ञानी होता है ।

मोक्ष का साधन एकमात्र ब्रह्म विद्या का अभ्यास है, उसे विचार द्वारा समझकर उसके अर्थ की बारम्बार भावना करनी चाहिये कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ', 'सोऽहं' । इससे भिन्न मोक्ष का कोई साधन नहीं है । आत्म विचार से ज्ञान एवं ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

कहत कठिन समुझत कठिन, साधन 'कठिन विवेक' ।

आत्म ज्ञानी अपने को सदा अकर्ता, असंग, आकाशवत् व्यापक, निष्क्रिय, अद्वैत आत्मा ही मानता है । ऐसा जीव किसी वस्तु, पदार्थ, भोग

की इच्छा नहीं करता है । अगर किसी स्त्री पर भी उसकी दृष्टि पड़ जावे तो वह उसे माँ तुल्य ही देखता है । पराये धन को वह मिट्टी एवं विष्ठा तुल्य समझता है तथा सब भूत प्राणियों में अपना ही प्रकाश देख, सब पर दया और प्रेम का व्यवहार रखता है । जैसा-जैसा अपने लिए शुभ-अशुभ मानता है वही व्यवहार वह दूसरों के प्रति भी करता है । उसको क्रिया करने से कुछ फल की प्राप्ति नहीं एवं न करने से किसी प्रकार की हानि भी नहीं होती है ।

वह पुरुष अपने भीतर बाहर चारों तरफ एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं देखता है । जहाँ भी उसकी दृष्टि पड़ती है एकमात्र निज आत्म ब्रह्म को ही देखता है । वह सदैव असंग रहता है । मन से किसी वस्तु का ग्रहण उसे रुचिकर नहीं होता किन्तु शरीर रक्षा हेतु आवश्यक सामग्री एवं क्रिया से संयुक्त दिखाई देता है ।

स्वरूप ज्ञान लाभ करने से पूर्व ही मुमुक्षु का शरीर पात हो गया तो वह पुनः पूर्व के अभ्यास युक्त मनवाला होने से अपने अभ्यास के आगे की भूमिका की ओर गति करता है । उसके ब्रह्म ज्ञान का त्रिकाल में नाश नहीं होता है । जैसे कोई विद्यार्थि रात्रि में लिखते-लिखते सोजावे तो वह जाग जाने पर उससे आगे लिखना प्रारम्भ कर देता है । अथवा जैसे कोई दूर नगर को जाने वाला रास्ते में रात्रि विश्राम कर प्रातः होने पर पुनः अपनी यात्रा की और प्रस्थान करता है । उसी प्रकार पूर्ण अवस्था से च्यूत मुमुक्षु भी अन्य जन्म ग्रहण कर आगे अभ्यास में तत्पर हो जाता है ।

बुद्धि ज्ञान की सप्त भूमिका में प्रथम एक दो अथवा तीन भूमिका पर आरूढ़ व्यक्ति के प्राणत्याग हो जाने पर वह पुनर्जन्म को प्राप्त होता है । उस जन्म में वह पश्चात जीवन में स्थित भूमिका से आगे की भूमिका २,३ या चतुर्थ भूमिका का अधिकारी हो जाता है । चतुर्थ भूमिका पर आरुढ़ व्यक्ति

जीवनमुक्त हो विदेह मुक्त हो जाता है, शेष ५,६,७ भूमिका निवृत्तिमय जीवन के विशेष आनन्द हेतु है ।

जो विषय भोग में ही सदा प्रीति करने वाला है वह तो ज्ञान रहित हुआ, वासना के जाल में गुथा हुआ घटी यन्त्र (पानी खींचने का रेहट) की तरह कभी स्वर्ग, कभी नरक को जाता-आता महान् कष्ट को भोगा करता है । कदाचित् उसे किसी सन्त के चरणों में श्रद्धा हो जावे एवं मुक्ति प्राप्त करने की जिज्ञासा हो जावे तो ही उसे संसार से वैराग्य प्राप्त होकर मुक्ति हो सकती है । अन्यथा उसके कल्याण की आशा करना मरुस्थल में बाग लगाने की तरह असम्भव सी ही प्रतीत होती है ।

ज्ञानी निज आनन्द स्वरूप आत्मा से विशेष प्रिय एवं सुख रूप अन्य किसी की नहीं जानता है । इसलिये वह अपने से भिन्न सभी को दुःख रूप समझ उनका त्याग कर देता है । अज्ञानी सदैव अपने से भिन्न वस्तुओं को विशेष सुखरूप समझ कर क्षणिक विषय भोगों के प्राप्ति हेतु चेष्टा करता रहता है, इस प्रकार वह परधर्म में प्रीति रखने वाला सदा भय को ही प्राप्त होता है ।

आत्मा को ही जानो

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्नि: सलिले संनिविष्ट: ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

– ६/१५ श्वे.उप.

'को देवः ?' सद्गुरु शिष्य की परमात्मा सम्बन्धी जिज्ञासा का उत्तर देता है – 'यो मनः साक्षी' । यह स्मृति का पद मन का साक्षी आत्मा को देवरूप बताता है । श्वेताश्वतर उपनिषद की श्रुति भी एको देव: इति श्रुते: । चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त समस्त भूतों में एक ही देव अर्थात् स्वयं प्रकाश चैतन्य अद्वितीय आत्मा रहता है । फिर भी सत्–असत् विचार रहित अज्ञानी मनुष्य माया द्वारा नाम, रूप में मोहित हुई बुद्धि के कारण अपरोक्ष रूप (साक्षात्) देव को नहीं जान सकता । इसलिए उसे गूढ़ और गुप्त से गुप्त कहा है । वह देव सभी के हृदय में स्थित अन्तरात्मा है । वह कर्मों का फल प्रदाता, भूतों का अधिष्ठान, सभी जीवों का साक्षी, द्रष्टा, चैतन्य, निर्गुण, सत्य स्वरूप है । वह आनन्द रूप जो सबके मन बुद्धि का साक्षी आत्मा है वही परमात्मा है । वह परमात्मा मुझ से भिन्न नहीं है ऐसी दृढ़ भावना मुमुक्षु को करना चाहिये । क्योंकि द्वैत भावना से भय की अर्थात् जन्म–मरण की उत्पत्ति होती है । भागवत में भी कहा है – भय द्वितीपाभिनिवेशत: स्यात् अर्थात् जीव ब्रह्म में भेद बुद्धि का आग्रह करने से जन्म–मरण रूप दु:ख प्राप्त होता है । इसलिए अद्वैत बुद्धि हेतु वेदों के

महावाक्यों का श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए ।

उत्तम अधिकारी आत्मा का साक्षात्कार करने हेतु श्रवण, मननादि आत्मज्ञान के मुख्य साधन का अवलम्बन लेता है । याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मेत्रेयी को जो उपदेश दिया उसे आप भी ध्यान से समझे ।

आत्म वा अरे द्रष्टव्यो: श्रोतव्यो: मनतव्यो: निदिध्यासितव्यो ।।

एको देव: सर्व भुतेषु गुढ़: सर्वव्यापि सर्व भुतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष: सर्व भूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

– श्वे. उप. ६/११

हे मैत्रेयी ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है । आत्मा का ज्ञान हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

श्रवण :– प्रथम, वेदान्त शास्त्रों का श्रवण करना अर्थात् ब्रह्मात्मेक्यम् का निश्चय कराने वाले जो शास्त्र तथा सद्गुरु उनसे अद्वितीय ब्रह्म जीव की अभेदता का निश्चय करने का नाम श्रवण है ।

मनन :– श्रवण किए हुए अद्वितीय ब्रह्म में संशयरूप असम्भावना दोष की निवृत्ति पूर्वक निरन्तर आत्म चिंतन करने का नाम मनन है । इसके बाद जीव ब्रह्म की एकता में तनिक भी सन्देह नहीं रहता है ।

निदिध्यासन :– मैं समस्त उपाधि शून्य प्रत्यगात्मा द्रष्टा, साक्षी, सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजन्मा, अक्रिय, असंग, अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा हूँ । इस रीति से सजातीय प्रत्यय का प्रवाह ही निदिध्यासन कहलाता है । इसी निदिध्यासन द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए कि वो सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ । ऐसा अनुभव करना ही आत्म साक्षात्कार है ।

जब तक बाह्य शब्दादिक विषयों में चित्त आसक्त है, तब तक मोक्ष प्राप्ति कठिन है । अत: समस्त विषयों को विष के समान त्याग कर किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु की एकान्त शरण ग्रहण कर श्रवण, मननादि द्वारा आत्म साक्षात्कार सम्पादन करना ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है । इसलिए सत्संग निरन्तर करते रहना चाहिए । उससे अपने आत्म पद में स्थिति लाभ होगा, तथा संसार के विषय पदार्थ मन में सरलता से प्रवेश न कर सकेंगे एवं क्षमा, दया, सन्तोषादि साधनों की प्राप्ति हो सकेगी ।

सब घट में है साइयाँ सूनी सेज न कोय ।
बलिहारी वा घट की जा घट परगट होय ।।

घट घट में है सूझे नहीं लानत ऐसी जिन्द ।
तुलसी या संसार को भयो मोतिया बिन्द ।।

कांख में छोरा, गाँव ढिंढोरा जाय ।
कस्तूरी कुन्डल बसे, मृग ढुंढे बन मांही ।
ऐसे घट में पीयु बसे, दुनिया ढूंढन् जाहिं ।।

ज्यों तिल माही तैल है, ज्यों चकमक में आगि ।
तेरा सांइ तुझ में, जागि सके तो जागि ।।

समझे तो घर में रहे परदा पलक लगाय ।
तेरा साहिब तुझ में अन्त कहूँ न जाय ।।

जो नैनन में पूतरी यो साहिब घट माहि ।
मूरख लोग जाने नहीं बाहर ढूंढन जाय ।।
पावक रूपी सांइयाँ सब घट रहा समाय ।
चित्त चकमक लागे नहीं, ताते बुझी–बुझी जाय ।।

लेकिन अविद्या के कारण प्राप्त आत्म ब्रह्म भी सभी को अप्राप्त की तरह प्रतीत हो रहा है । जो नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति हेतु कितने जिज्ञासु जप, तप, तीर्थाटन, यम, नियम, संयम ब्रह्मचर्य आदि अनेक साधनों का अनुष्ठान भी करते हैं फिर भी उस नित्य प्राप्त आत्म ब्रह्म की प्राप्ति इन उपरोक्त किसी भी साधन से नहीं हो पाती है । जब कोई दयालु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु परमात्मा का प्रत्यगात्मा याने 'सोऽहं' रूप से उपदेश करेगा, तब ही उस ब्रह्मविद्या के उपदेश से मैं दु:खी, मैं कर्ता-भोक्ता जीव हूँ, मैं साधन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करूँगा आदि अज्ञान जन्य भावों की पूर्णतया निवृत्ति हो जावेगी फिर घर की वस्तु घर में रखी दिखाई पड़ने पर प्राप्त हुई-सी प्रतीत होती है । किन्तु अविद्या नाश से पूर्व परमात्मा की प्राप्ति नहीं थी एवं अविद्या के नाश से प्राप्ति हुई ऐसा नहीं है । वह ब्रह्म तो अज्ञानी को अविद्या रहने पर भी पूर्ण रूप से प्राप्त ही है तथा ज्ञान हो जाने पर अविद्या के नाश होने पर भी कोई अन्य नूतन तत्त्व रूप से प्राप्ति नहीं होती है । वह सच्चिदानन्द परमात्मा तो ज्यों का त्यों प्रत्येक प्राणी में हर समय स्थित है ।

ब्रह्म नास्तिक एवं आस्तिक में असंग ही है । वह प्रथम जीव रूप में रहता है एवं ज्ञान हो जाने पर फिर परमात्मा रूप से हो जाता हो ऐसा भी नहीं है । अथवा अविद्या के समय बन्ध रूप में था और ज्ञान होने पर वह मुक्त हुआ है, ऐसा भी नहीं है ।

वह ब्रह्म तो निरन्तर, अचिन्त्य, चैतन्यघन, परिपूर्ण समस्त देहों में आत्मा रूप से असंग ही रहता है । ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि प्रथम कर्म तथा उपासना द्वारा उसे शुद्ध करके फिर ज्ञान द्वारा पूर्ण शुद्ध परमात्मा रूप की प्राप्ति हो सकेगी । क्योंकि जो पूर्व से परमात्मा न होगा एवं बाद में ज्ञान से परमात्मा बनता तो है ऐसा उत्पन्न परमात्मा पुन: नष्ट भी हो जावेगा । तो फिर वह नाशवान् पदार्थ परमात्मा भी नहीं हो सकेगा वह फिर जीव हो

जावेगा । अतः प्रत्यगात्मा स्वरूप से ही परमात्मा समझना चाहिये । उस प्रत्यगात्मा का बोध किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के सत्संग से ही होता है । इसलिए सत्संग करना चाहिये, क्योंकि सत्संग से ही दुश्कर भव सागर पार किया जा सकता है ।

'उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य बरान निबोधतः'

– कठो : उप :

हे अनादिकाल से निद्रा में सोनेवाले भव्य जीवों ! उठो जागो ! अपने नाम, रूप, जाति अभिमान का त्याग करके अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप में निष्ठावान् बनो । इस हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर मानव जीवन को सार्थक बनाओ । मानव जीवन का यही चरम लक्ष है ।

कुरुते गंगा सागर गमनं, ब्रतपरिपालनं अथवा दानम् ।
ज्ञान विहीन सर्वमतेन मुक्ति न भवति जन्म शतेन ।।

चाहे जितना कर्म करो, यज्ञ, तप, दान करो, गंगा स्नान करो, भेद उपासना करो, ग्रन्थ लिखो, पंचाग्नि तपो, किन्तु जब तक ब्रह्मात्मेक्य ज्ञान नहीं होगा तब तक देहध्यास दूर नहीं होगा, जब तक देहाध्यास दूर नहीं होगा तब तक अहंता-ममता रूप देहाभिमान दूर नहीं होगा और जब तक देहाभिमान दूर नहीं होगा तब तक सो जन्मों मे भी मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

सत्संग की महिमा

(रामायण से)

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध ।
तुलसी संगत साधु की, हरे कोटि अपराध ।।
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिली, जो सुख लव सत संग ।।

पुण्य पुन्ज बिन मिले नहीं संता ।
सत संगति संसृति कर अंता ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा,
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

अतएव जिज्ञासु को किसी सद्गुरु की शरण में रहकर सदैव वेदान्त शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, करते रहना चाहिये जिससे ये मनुष्य देहाभिमान से बचकर जीवन मुक्त हो सकता है ।

बड़े भाग्य पाइब सतसंगा,
बिनहि प्रयास होई भव भंगा ।
बिनु सत्संग न हरि कथा,
तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिन आत्मपद,
होई न दृढ़ अनुराग ।।
बिनु सतसंग विवेक न होई,
आत्म कृपा बिन सुलभ न सोई ।

आगम निगम पुरान अनेका,
　　　　पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ।
प्रभु पद पंकज प्रीति निरन्तर,
　　　　सब साधन का यह फल सुन्दर ।
धर्म परायन सोई कुल त्राता,
　　　　राम चरन जा कर मन राता ।।

सुलभ सुखद मारग यह भाई,
　　　　भगति मोरि पुराण श्रुति गाई ।
कहहूं भक्ति पथ कबन प्रयासा,
　　　　जोग न मख, जप, तप उपवासा ।
नेम, धर्म, आचार, ब्रत, योग यज्ञ तप दान,
भेषज पुनि कोटिन करो रुज न जाय हरिजन ।।

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा,
　　　　पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।
सातव सम मोहि मय जग देखा,
　　　　मोते संत अधिक करि लेखा ।

सुमिर सोहम् यह पावन नामु,
　　　　अपने बस करि राखेहु रामु ।
सम्मुख होई जीव जब मोहि,
　　　　जन्म कोटि अघ नासहिं तबही ।
पापवंत कर सहज सुभाउ,
　　　　भजन मोर तेहि भाव न काऊ ।

भजेउ राम आप भव-चापु,
　　　　भय भव भंजन नाम प्रतापु ।

नाम लेत भव सिंन्धु–सुरवाहीं,
करहु विचार सुजन मन माहीं ।
जगत् प्रकाश्य प्रकाशक आपु,
मायाधीश ज्ञान गुण धामु ।

सो सुख धाम राम अस नामा,
अखिल लोक दायक विश्रामा ।
सब पर परम प्रकाशक जोई,
राम अनादि अवध पति सोई ।

देखिय सुनिय गुणीय मन माही,
मोह मूल परमारथ नाहीं ।
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जाने कोई ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होई ।।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी,
मत हमार अस सुनहूं सयानी ।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा,
अविगत अलख अनादि अनूपा ।

व्यापक विश्व रूप भगवाना ।
तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।

कहहि संत मुनि वेद पुराना,
नहीं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना ।
एक अनिह अरूप अनामा,
अज सच्चिदानन्द पर धामा ।
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा,
दीप सिखा सोई परम प्रचंडा ।

सहज प्रकाश रूप भगवाना,
नहीं तहं पुनि विग्यान बिहाना ।।

निज सुख बिन मन होई की थीरा,
परस की होई विहिन समीरा ।।

बिन बिग्यान की समता आवई,
कोउ अवकाश कि नभ बिन पावई ।
चहुं चतुरन कह नाम आधारा,
ज्ञानी प्रभुहि विसेषि पिआरा ।

व्यापकब्रह्म अलख अविनासी,
चिदानन्द निरगुन गुनरासी ।
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता,
अनुभव गम्य भजहि जेहि संता ।

सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना,
तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ।
भगति तात अनुपम सुख मूला,
मिलई जो संत होय अनुकूला ।
राम नाम मणि दीप धर, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चहसी उजियार ।।

जासु नाम सुमिरत एक बारा,
उतरहि नर भव सिंधु अपारा ।
सादर सुमिरन जे नर करही,
भव बारिधि गोपद इव तरई ।।

◈ ◈ ◈

गागर में सागर

शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तीन प्रकार के स्नान होते हैं । शरीर के स्नान हेतु जल साबुन तथा आसन उपवास, मानसिक स्नान हेतु भजन, प्राणायाम ध्यान, परोपकार, सतकर्म, शास्त्र स्वाध्याय तथा आत्मिक स्नान हेतु ब्रह्मात्मेक्य ज्ञान आवश्यक है ।

– 'जावाल दर्शनोप'

क्षिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम शरीरा ।। – रामायण

शरीर माता–पिता के रजवीर्य धातु से बनता है, जो व्यावहारिक दृष्टि से निकृष्ट माने जाते हैं । शारीरिक स्नन द्वारा निकृष्ट धातु से उत्पन्न शरीर कभी पवित्र नहीं हो सकता । शरीर पर आये मैल, आलस्य, पसीना ही जल साबुन से दूर हो सकता है । देह किसी का न पापी होता है, न किसीका पुण्यवान होता है । जल स्नान से केवल देह शुद्धि तो हो सकती है, किन्तु पाप निवृत्ति एवं पुण्य प्राप्ति का इससे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है । पुण्य–पाप का सम्बन्ध शुभाशुभ कर्म करने वाले मन या जीव से है, देह या आत्मा से नहीं है । स्नान चाहे कोई घर में, पवित्र नदियों में, कुम्भपर्व, सोमवती अमावस्या, कार्तिक माह, ग्रहण, सूर्यपराग या अन्य पर्व पर किसी तीर्थ में स्नान करे किन्तु स्नान करने मात्र से पाप कटने एवं पुण्य संचय होने का कोई सम्बन्ध नहीं है । जब तक कि आप तन, मन, धन द्वारा अन्य के प्रति सेवा नहीं करेंगे, तब तक केवल स्नान उपवास द्वारा पुण्य प्राप्ति नहीं होगी ।

शरीर को लेकर ऊंच-नीच, जाति भेद तथा प्रान्तियता की भावना कर राग-द्वेष करना मानव की सबसे बड़ी भूल है । जिसके परिणाम स्वरूप विश्व अशान्ति की ज्वाला में जलता हुआ दु:ख भोग रहा है । जैसे सभी का प्रकाशक एक सूर्य है, उसी प्रकार सभी के शरीरों का आधार भूत आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पंच महाभूत है । जैसे एक स्वर्ण से निर्मित विभिन्न अलंकार अन्य-अन्य जातियों के नहीं हो सकते, उसी प्रकार पंचभूत से बने नाना आकार, प्रकार, संस्कार के प्राणी पंचभूत से अन्य जाति के नहीं हो सकते हैं । स्वर्ण से बने सभी अलंकार मात्र स्वर्ण ही है, उसी प्रकार पंचभूत से बने सभी भूत प्राणी समान ही है ।

प्रायः सब नगरों ग्रामों के लोगों के मन में कुम्भ स्नान से पाप निवृत्ति एवं मुक्ति प्राप्ति की अन्ध श्रद्धा चली आरही है । कैसे भी समय, पैसे तथा साथ मिले तो कुम्भ स्नान कर आवें । कहते हैं समुद्र मन्थन से १४ रत्न में अमृत का कुम्भ भी निकला था । जिसे देवताओं ने राक्षसों को न बांट वहाँ से अमृत कुम्भ चुराकर भाग रहे थे, उस अमृत की कुछ बूंदे दुर्भाग्य से नासिक, उज्जैन, इलाहाबाद तथा हरिद्वार में गिर गई थी । उस घटना को कितना समय हुआ कुछ कहा नहीं जा सकता । किन्तु इतना निश्चित है कि यदि बूंदे गिरी भी होगी तो उसी समय देवता ने उस अमुल्य अमृत को आकर वहाँ से चाट लिया होगा । जैसे किसी के जेब से रुपया या थैली से सामान गिर जावे तो वह व्यक्ति तत्काल उठा लेता है । तब देवताओं के कुम्भ से अमृत पृथ्वी पर गिरने पर उन्होंने उन अमृत की बूंदों को पुन: ग्रहण नहीं किया होगा यह मानने में नहीं आता ।

नदी जल की धारा का नाम है किसी खाई या नाली को नदी नहीं कहते हैं । जब वे बूंदे नदी में गिरी होंगी तो तभी जल में ही विलीन हो गई होगी । जिन्हें मछली, मगर आदि जलचरों ने ग्रहण कर अमृत्व को प्राप्त करलिया होगा या फिर नादियों की धारा में विलीन होकर उसके साथ समुद्र में मिलकर वह अमृत तभी खारा हो गया होगा । अब वह अमृत को उन्ही

चार स्थानों पर प्रति बारह वर्षों बाद पुन: वहाँ कौन गिराने आवेगा ? जो अमृत का कुम्भ था वह तो तभी देवताओं ने मिलकर ही पान कर लिया था, जिन्हें नहीं मिला था उन्होंने कुम्भ को फोड़ कर उसके टुकड़े कर-कर के सभी ने बांट चाट लिया होगा । अब तो खाली मटकी के टुकड़े भी शायद किसी भाग्यशाली को नदी के तट पर या नदी को तलेटी में मिल जावें यह भी सम्भव नहीं है ।

गुरु कुम्भार शिष्य कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट ।
अन्दर अन्दर हाथ सहार दे, बाहर-बाहर चोट ।।

यह देह ही कुम्भ है, जिसे परमात्मा ने गढ़ा है जिसमें आत्मा रूपी अमृत भरा है । जब सत्संग प्राप्त होता है तब सद्गुरु की कृपा से यह बोध जाग्रत होता है कि **इस देह रूपी कुम्भ में मैं आत्मा अमृत हूँ ।** इस भाव में जब आत्मिक स्नान होता है तभी जीव मुक्त हो कृत-कृत्य हो पाता है । इस आत्म विचार के अलावा अमृत नाम का कोई पेय पदार्थ विश्व में अनादि से आज तक न किसी को मिला है न भविष्य में मिलने की आशा है । **देह मृत है एवं मैं देही आत्मा ही अमृत हूँ ।** जो शस्त्र से कटता नहीं, अग्नि से जलता नहीं, पानी से भीगता नहीं, तथा पवन से सूखता नहीं ऐसा मैं अमृत इस देह कुम्भ में ही विद्यमान है ।

शरीर के भीतर स्थित सूक्ष्म पापी मन, जल एवं पाषाण से निर्मित स्थानों पर वाह्य स्थूल शरीर को स्नान करा देने मात्र से कभी शुद्ध नहीं हो सकता है, जब तक कि उसे मानसिक स्नान या आत्मिक स्नान न कराया जाय । **'गागर में सागर'** यह जग प्रसिद्ध उक्ति है । अर्थात देह रूपी गागर में मैं असीम आत्मा अमृत सागर विद्यमान है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत-कृतस्य योगिन: ।
नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेत न स तत्त्ववित् ।।

- 'जाबाल दर्शनोप' १/२३

देह से पृथक् मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, ऐसे निश्चय से जिनकी समस्त कामनाएँ समाप्त हो चुकी है, एवं जिन्हे अपने में पूर्णता का अनुभव हो चुका है । अब उन्हें कल्याण हेतु किसी भी प्रकार के कर्म, उपासना, ध्यान, समाधि आदि साधनों के करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । वे गृहस्थ में हों या अन्याश्रम में हों, सदा योगी अर्थात् ब्रह्म रूप ही हैं । सद्गुरु द्वारा उन्होंने तो साक्षात् ज्ञान अमृत का ही पान कर लिया है । अब वे कृत-कृत्य हो चुके हैं अब उन्हें अपने मोक्षार्थ या मोक्ष रक्षार्थ किसी भी प्रकार के जप, तप, पूजा, पाठ, मन्दिर, तीर्थ, स्नान, ध्यान, यज्ञ, योगादि साधनों के करने की किन्चित भी कर्त्तव्यता नहीं है ।

यदि किसी मंद बोध वाले को देह से पृथक् मैं आत्मा हूँ या नहीं हूँ ऐसा संशय युक्त ज्ञान है तो भी उसे वेदान्त महावाक्यों का ही बारम्बार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि साधनों का ही सेवन करना चाहिये, किन्तु ज्ञान विरोधी कर्म तथा उपासना का सेवन नहीं करना चाहिये । यदि वह करता है तो उसे आरूढ़पतित ही जानना चाहिये । सद्गुरु द्वारा ज्ञान निष्ठा दृढ़ कराने के बाद भी यदि कोई ज्ञान से पूर्व वाले पूजा, पाठादि साधनों को करना अपने लिए कर्तव्य मानता है तो अभी उसे अज्ञानी ही जानना चाहिये क्योंकि वह आत्म निष्ठ नहीं है । शास्त्रों में आत्मनिष्ठ के लिये किसी भी प्रकार के वैदिक कर्मों को करने की कर्तव्यता नहीं बतलाई है ।

'तस्य कार्यं न विद्यते'

– गीता ३/१७

कर्म–उपासना कब तक ?

हे आत्मन् ! चित्तशुद्धि एबं ब्रह्म जिज्ञासा उदय होने से पूर्व अन्तःकरण शुद्धि हेतु जितने भी कर्म, उपासना कर लिये जावे वे कर ले । आत्म जिज्ञासा उदय होना अन्तःकरण शुद्धि का अपने आप में प्रमाण है । जिस साधक के मन में सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, सहनशीलता, परोपकारता, अक्रोधीता आदि सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो चुका फिर उस मुमुक्षुके लिये मुक्ति हेतु कर्म उपासना का त्याग ही कर्तव्य है । क्योंकि वे मोक्ष के सहायक बहिरंग साधन है । अब मोक्ष के अन्तरंग साधन श्रवण, मनन में लग जाना ही उसके लिये परम कर्तव्य रूप है ।

अशुभ वासना का होना ही मल है एवं वही पाप का कारण है । जब जीव को अशुभ वासना की प्रतीति न हो एवं विषय वासना अशान्त न करें, तब जानना चाहिये कि अन्तःकरण की शुद्धि तथा चित्त की चंचलता दोनों दोष दूर हो चुकें हैं । तब उसे मन, वचन कर्म से किसी प्राणी को दुःखी न करने की भावना दृढ़ हो जाती है । अनायास ही हमसे कोई ईर्ष्या करे, विरोध करें, दुःखी हो तो होवे उसके लिये हम उत्तरदायी नहीं है । हमारे द्वारा प्रयत्न किसी को दुःखी करने की चेष्टा नहीं होनी चाहिये । तभी जानना चाहिये कि कर्म, उपासना का फल सिद्ध हो चुका है । अब जो कर्म, उपासना का सर्वोत्तम फल आत्म ब्रह्म को जानने की उसे इच्छा हुई कि मैं कौन हूँ ? आत्मा कौन है ? ब्रह्म तथा आत्मा में क्या अन्तर है ? मुक्ति की प्राप्ति किस साधन से होगी ? इन सब प्रश्नों का समाधान सद्गुरु एवं शास्त्र द्वारा प्राप्त करना चाहिये । जब बारम्बार के श्रवण द्वारा अपने ब्रह्म

स्वरूप का परिचय हो जावेगा तब देहात्म बुद्धि का लोप हो जावेगा फिर अपने कल्याणार्थ किसी भी साधन का प्रयोजन नहीं रहेगा ।

जिसने द्रष्टा, साक्षी, आत्मा को मैं रूप जान लिया है ऐसे ज्ञानी की अब कल्पित देव-दवता के पूजा, पाठ, ध्यानादि साधनों में प्रीति नहीं रहती है । वह ज्ञानी केवल अपने आत्म स्वरूप में ही सत, चित्, आनन्द बुद्धि कर अपने आत्म स्वरूप में ही तृप्त रहता है । आत्म सिद्धि से बड़ी कोई सिद्धि तथा आत्मधन से बड़ा धन कुछ अन्य नहीं मानता है इसलिये वह सदा अपने स्वरूप को जानकर सर्वदा तृप्त एवं संन्तुष्ट रहता है । वह तो कृत कृत्य हो चुका हैं । अब उसको गुछ करना शेष नहीं है । अखण्ड, व्यापक आत्म स्वरूप को मैं रूप से बोध हो जाने पर अब उस ज्ञानी के लिये कुछ भि अप्राप्त-सा नहीं रहता । अब उसे अज्ञान काल की तरह तीर्थ, मन्दिर, जंगल, एकान्त में जाने की या ध्यान, समाधि आदि साधन करने की जरूरत नहीं रहती है । अब उस ने अमृतत्त्व पाने की जरूरत नहीं रहती है न मृत्यु भय मुक्त होने की जरूरत रहती है । आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप, अमृत स्वरूप होने से ज्ञान पाने की एवं अमृत पाने की भी जरूरत नहीं रहती । आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान हरते ही सब करने-धरने का भ्रम छूटकर वह तो नित्य मुक्त अवस्था में अपने आनन्द स्वरूप आत्मा में तृप्त हो जाता है ।

जो ज्ञान की इच्छा रखते हैं, किन्तु साथ ही भोगेच्छुक भी हैं । इस दोष के कारण वे उत्तम शास्त्रों का श्रवण नहीं कर पाते हैं । उनके लिए निष्काम कर्म और उपासना ही कर्तव्य है । जब ऐसे करते-करते उनके अन्त:करण की शुद्धि हो जावेगी एवं भोगेच्छा निवृत्त हो जावेगी, तब वे ज्ञान में प्रवेश कर सकेंगे, इसके पूर्व उनका ज्ञान में प्रवेश नहीं हो सकेगा । जिसकी केवल भोगों में रुचि है, जो सदैव विषय चिन्तन में ही रत रहता है, जिसे ज्ञान के साधन रूप निष्काम कर्म की जिज्ञासा ही नहीं होती है, ऐसे मूढ़ अज्ञानी को नरक से बचने हेतु सकाम कर्मो का करना ही श्रेष्ठ है ।

कर्म, उपासना ज्ञान के विरोधी

यदि मंद जिज्ञासु भी ज्ञान में रुचि कर उसके हेतु बारम्बार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता रहेगा तो कुछ समय के अभ्यास से वह अपने को संशय रहित नित्य, मुक्त, शुद्ध, ब्रह्म स्वरूप समझने लग जायेगा । अगर वह ज्ञान को छोड़ कर्म, उपासना के जंगल में ही उलझ गया तो फिर उसे जो मंद बोध उत्पन्न हुआ था कि **मैं आत्मा असंग हूँ अथवा लिप्त हूँ ? मैं आत्मा हूँ अथवा अनात्मा हूँ ? मैं कर्ता-भोक्ता हूँ या अकर्ता-अभोक्ता ? जीव ब्रह्म एक है या पृथक् ?** ऐसा अदृढ़ ज्ञान भी कर्म उपासना में लगजाने से नष्ट हो जाएगा । इसलिये कर्म एवं उपासना ज्ञान के विरोधी है ।

जिज्ञासु को स्वरूप में जो उपरोक्त शंका हुआ करती थी, वह कर्म उपासना में जुड़े रहने के कारण पुन: नष्ट हो जावेगी । इस तरह उसका मंद ज्ञान धीरे-धीरे नष्ट होकर अज्ञानावस्था में जैसा निश्चय था उसी तरह फिर मैं कर्ता-भोक्ता, जन्म-मरण वाला दु:खी-सुखी जीव हूँ, ऐसा विपरीत निश्चय शीघ्र दृढ़ हो जावेगा । अत: मंद बोध उत्पन्न होने से पूर्व ही कर्म उपासना करना कर्तव्य है, बाद में नहीं । बल्कि ज्ञान के मुख्य साधन श्रवण, मनन में ही सब, बाह्य प्रवृत्ति छोड़ कर तत्काल लग जाना चाहिए अन्यथा जो आत्म ज्ञान लाभ करने की भावना रूपी अंकुर उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञान द्वारा सिंचन व रक्षण न होने से नष्ट हो जावेगा । जब दृढ़ ज्ञान हो जावेगा । तब लोक शिक्षार्थ कर्म, उपासना अपने व्यावहारिक जीवन में अपना लिया जायेगा तब तो कोई हानि नहीं होगी, किन्तु मंद बोध वाले के

लिये तो वह विष रूप ही सिद्ध होगें । क्योंकि कर्म, द्वैत की उत्पति कराने वाले होते हैं । बिना द्वैत की भावना बनाये कोई कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता है एवं श्रुति कहती है कि द्वैत ही भय को देने वाला है । अर्थात् जन्म-मृत्यु को दिलाने वाला है ।

यज्ञादिक कर्म मेरे को करना चाहिए, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं उपासना द्वारा उसे प्राप्त करूँगा आदि द्वैत की ही उपासना होने से अद्वैत ज्ञान में विरोधी है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस श्रुति के मतानुसार सब वही है, तब कर्म उपासना एवं योगादि द्वारा उसे प्राप्त करना अज्ञान का ही तो कार्य होगा । अत: जिनकी ज्ञान में साधारण जिज्ञासा भी है एवं भोग में भी जिनका अन्त:करण आसक्त है, ऐसे मुमुक्षु को भी श्रवण, मनन में ही जुड़ जाना चाहिए । जिससे उनको बारम्बार के श्रवण द्वारा संसार एवं उनके पदार्थों के प्रति अनित्यता का बोध होने से कुछ समय के अभ्यास से स्वाभाविक वैराग्य हो जावेगा एवं मन की मलिनता दूर होकर वह दढ ज्ञान में अनुरक्त हो सकेगा । फिर वह इसी जन्म में अथवा आगामी जन्म में किसी वैराग्यवान के घर जन्म लेकर अपनी आगामी ज्ञान भूमिका में प्रवेश कर अपने स्वरूप में सदा के लिये स्थित हो सकेगा । किन्तु जो श्रवण, मनन रूपी उत्तम साधन को त्याग कर कर्म, उपासना में पुन: प्रवृत्त रहेगा वह मनुष्य उच्च स्थान से च्यूत होने के नाते पतित ही माना जाता है अर्थात् आरूढ़ पतित कहा जाता है ।

वेदान्त में जन्म-मरण रूप दुःखों से निवृत्ति एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है । यह मानव जीवन का चरम लक्ष्य पातन्जल योग दर्शन, कपिल सांख्य दर्शन, जैमिनी कर्म मिमांसा एवं भेदभक्ति द्वारा नहीं हो सकेगा । मुक्ति तो एक मात्र ब्रह्म व आत्मा के एकत्व ज्ञान के बिना अन्य किसी साधन से नहीं हो सकेगी ।

मोक्ष का साक्षात् हेतु ज्ञान

साधक द्वारा सकामता से किये गये समस्त कर्मों का फल नाशवान् होता है । उसके पुण्य के परिणाम स्वरूप स्वर्गलोक, वैकुण्ठादि लोकों से फल भोग कर उसे पुन: इसी मृत्यु लोक में आना ही पड़ता है ।

यह तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दु:ख दाई ।।

– रामायण

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकम् विशन्ति ।।

– गीता : ९/२१

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

– गीता : ८/१६

निष्काम कर्म करने से ही अन्त:करण के मल दोष की हानि होती है, तथा निष्काम कर्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक होने से यह ज्ञान का बहिरंग साधन माना गया है । उपासना द्वारा चित्त की चंचलता दूर होती है एवं ब्रह्म जिज्ञासा उदय होती है । **इस प्रकार कर्म तथा उपासना का एकमात्र सर्वोत्तम फल आत्मा को जानने की उत्कंठा का होना ही है ।** जिस प्रकार दही मन्थन से उसका सार परिणाम मक्खन प्राप्त हो जाने पर मक्खन का उपयोग करना ही प्रयोजन रहता है । किन्तु असार दही रूप तक्र (मट्ठा, छांछ) को पुन: मथने से कोई लाभ नहीं प्रत्युत निरर्थक श्रम मात्र ही होगा । उसी प्रकार कर्म, उपासना का अन्तिम फल आत्म तत्त्व की जिज्ञासा हो जाने पर फिर मुमुक्षु हेतु कर्म, उपासना साधन करना असार दही

मन्थन की तरह निष्प्रयोजनीय ही हो जाते हैं, क्योंकि अज्ञान, अविद्या के विरोधी ज्ञान है, न कि कर्म एवं उपासना ।

'तस्य कार्यं न विद्यते' – गीता : ३/१७

जिस जिज्ञासु के मल, विक्षेप दो दोष दूर हो चुके हैं ऐसे मुमुक्षु अथवा जिसे अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप में दृढ़ निष्ठा हो चुकी है इन्हें वेदोक्त कर्म एवं उपासन करना कर्तव्य नहीं है । मुमुक्षु के लिये तो मोक्ष में वाधक ही है, क्योंकि कर्म, उपासना तो भेद भाव से सम्पन्न होते हैं कि मैं कर्म का कर्ता हूँ एवं मुझ से पृथक कोई ईश्वर, देवी–देवता मेरे कर्मों का फल देने वाला है । जब कि ब्रह्मज्ञान हेतु मुमुक्षु को ब्रह्माकार वृत्ति का ही चिन्तन मनन, एवं ध्यान करना मोक्ष का अन्तरंग साधन वेद में बतलाया है ।

१. केवल कर्म अथवा उपासना का फल अनित्य संसार है ।

२. ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है ।

अत: आत्मा को जानने सम्बन्धी इच्छा के जाग्रत हो जाने पर उसकी अनुभूति हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधन करना ही कर्तव्य रहता है । इस मुख्य कार्य को न कर जो पुन: कर्म–उपासना रूपी गड्ढे में ही पड़ा रहता है वह मुर्ख है । जैसे कोई मूर्ख मक्खन को त्याग शेष असार दही को चाहता है अथवा पारसमणि को त्याग कांच को चाहता है । अथवा हाथ में रखे मिष्टान्न को फेंक कोहनी चाटनेका असफल प्रयास कर रहा है ।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो ।
निर्वेदमायान्नस्त्य कृतः कृतेन ।।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डको : १/२/१२

मोक्ष के जिज्ञासु को यह भली प्रकार से जान लेना चाहिये कि अनित्य कर्मों का फल नित्य नहीं है । अपने कल्याण चाहने वाले मनुष्य को सकाम कर्मों के फल स्वरूप इसलोक तथा परलोक के समस्त सुखों को क्षणिक एवं नाशवान् जानकर त्याग करदेना चाहिये । मुक्ति प्राप्ति हेतु ब्रह्मलोक तक के सुखों से वैराग्य कर अखण्डानन्द की प्राप्ति हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम सहित जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि नित्य प्राप्त आत्मा की प्राप्ति अनित्य कर्मों द्वारा नहीं हो सकती । अपरिच्छिन्न पदार्थ केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो जाता है । अपने से दूर पदार्थ की प्राप्ति हेतु साधन करना आवश्यक होता है । परमात्मा अपना स्वरूप होने से चिन्तन मात्र से प्राप्त हो जाता है । इसी लिये वेद का निर्णय है **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** ज्ञान बिना मुक्ति नहीं हो सकेगी । **'ऋतेः ज्ञानान्न मुक्ति'** ।

अज्ञान रूप सर्प से डसे हुए को ब्रह्मज्ञान रूप औषध के बिना, शास्त्रों के पढ़ने से, उन शब्दों के सन्धि विच्छेद करते रहने से, मन्त्रों के जाप करने से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं है । शब्दात्मक शास्त्र जल तो चित्त को भटकाने वाले एक महान वन है । इसलिये केवल शास्त्र स्वाध्याय से काम नहीं चलेगा । उसके लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मार्गदर्शी गुरु की आवश्यकता है । वाणी की चतुराई, शब्दों का प्रवाह, शास्त्र व्याखान की कुशलता, विद्वता आदि भोग दिला सकती है किन्तु मोक्ष नहीं । मोक्ष की प्राप्ति न पातन्जंल अष्टांग योग से होगी, न महर्षि कपिल के सांख्य योग से होगी, न जैमिनि के यज्ञादि कर्मों से, न गौतम के न्याय दर्शन से, और न देवताओं की भक्ति से हो सकेगी । मोक्ष तो ब्रह्म और जीवात्माके एकत्व ज्ञान अर्थात् अभेद ज्ञान से ही हो सकता है । अन्यथा सौ ब्रह्मों के बीत जाने पर भी मुक्ति ज्ञानारिक्त अन्य किसी साधन से नहीं हो सकेगी ।

ज्ञान के भेद

ज्ञान दो प्रकार का होता है । एक परोक्ष ज्ञान तथा दूसरा अपरोक्ष ज्ञान, इसमें अपरोक्ष ज्ञान का नाम ही साक्षात्कार कहलाता है । पंचदशी ग्रन्थ में इसी बात की पुष्टि की है ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्ष ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कार: स उच्यते ।।

अपने से पृथक् परमात्मा को सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द रूप मानना परोक्ष ज्ञान कहलाता है । तथा वह सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त स्वरूप परमात्मा मैं हूँ ऐसा जानना ही अपरोक्ष ज्ञान या आत्म साक्षात्कार कहलाता ।

जैसे समुद्र का पानी खारा (लवण रस) है ऐसा किसी के द्वारा सुनकर ज्ञान का होना यह परोक्ष ज्ञान कहलाता है किन्तु स्वयं उसका रसास्वादन कर उसके खराश की अनुभूति करलेना अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार कहलाता है । उसी प्रकार सत्शास्त्र अथवा सद्गुरु के उपदेश द्वारा परमात्मा सत्-चित्-आनन्द रूप मानलेना परोक्ष ज्ञान कहलाता है, किन्तु उसी तत्त्व को स्वानुभूति कर लेना कि **''वह सत्यं ज्ञानं अनन्तम् ब्रह्म मैं ही हूँ'' ''सोऽहं''** यह अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है ।

जब मुमुक्षु किसी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण कर अपने को स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण ये चार देह से पृथक् मैं, स्वयं प्रकाश, शुद्ध, सामान्य चैतन्य, आत्मा हूँ, ऐसे निदिध्यासन रूप साधन द्वारा देहाध्यास

का त्याग करने का प्रयास करेंगे तो इसी जीवन में उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है ।

जो गुरु मरने के बाद मुक्ति बताते हैं, वो पाखंडी है, क्योंकि मोक्ष द्वार रूप इस मानव देह में रहकर ही जब मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकी तब मरने के बाद मुक्ति मिलेगी इसमें क्या विश्वास ? जो अबहूँ है सो तबहूँ मिलेगो अर्थात् मुक्त ही मुक्त हो सकेगा ।

इस प्रकार मरने के बाद जो गुरु मुक्ति दिलाने का प्रलोभन देते हैं उन दंभी गुरु के धोखे में नहीं आना चाहिये । उसे झूठा, 'ठग, वटमार, लोभी जानकर त्याग ही देना चाहिये । क्योंकि वह पापी, अंधा अपना तो सर्वनाश करेगा ही साथ में अन्य भोले जीवों को भी मृत्यु के मुख में ढकेल नरक में ले गिरेगा ।

झूठे गुरु अजगर बने, लख चौरासी जाय ।
शिष्यगण चींटी बने, नोंच-नोंच के खाय ।।

अपरोक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है -

(१) मन्द ज्ञान । **(२) दृढ़ ज्ञान ।**

मन्द ज्ञान : संशय-विपर्यय सहित जो ज्ञान होता है कि ''मैं सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म हूँ'' ऐसा शास्त्र में वर्णित है किन्तु मैं ऐसा कैसे हो सकता हूँ ? मैं तो अल्पज्ञ, दु:ख एवं नाश रूप हूँ, किन्तु गुरु देव कहते हैं इसलिए शायद हो भी सकता हूँ । इस प्रकार के ज्ञान को मन्द ज्ञान या अदृढ़ ज्ञान कहते हैं ।

दृढ़ ज्ञान :- संशय-विपर्यय रहित जो शुद्ध ज्ञान है उसी को दृढ़ ज्ञान कहते हैं । जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्', शिवोऽहम्', 'वह परमात्मा मैं हूँ' ।

जिस मुमुक्षु को अपने ब्रह्म स्वरूप होने में तो शंका है किन्तु आत्मा को जानने की इच्छा है, ऐसे मन्द बोध वाले को भी उत्तम जिज्ञासु ही कहा जाता है, क्योंकि आत्म ज्ञान की जिज्ञासा को ही उत्तम जिज्ञासा या शुभेच्छा के नाम से शास्त्रों में कहा है । ऐसे उत्तम जिज्ञासु को भी कर्म तथा उपासना करना कर्तव्य नहीं रहता । उसे तो अपने ज्ञान को दृढ़ बनाने हेतु बारम्बार 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि वेदों के महावाक्यों का हि बाराम्बार विचार पूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना ही मुख्य कर्तव्य शेष रहता है । जो कुछ ज्ञान के दृढ़ होने में न्यूनता है वह बारम्बार के श्रवण मनन द्वारा दूर होकर अपने सत्य स्वरूप का दृढ़ ज्ञान हो जावेगा । अतः उसे कर्म, उपासना करना कर्तव्य नहीं है । कर्म, उपासना का सर्वोत्तम फल आत्मा को जानने की जिज्ञासा तो उसके हस्तगत हो ही चुकी है और अब कर्म, उपासना का ब्रह्म जिज्ञासा से श्रेष्ठ फल तो कुछ शेष है ही नहीं, जो उसे करते रहने से मिल सकेगा ।

चित्तस्य शुद्धयेकर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ।।

– विवेक चूड़ामणी : ११

यदि अदृढ़ ज्ञानी कर्म, उपासना में लग जाएगा तो उसका उत्पन्न अदृढ़ ज्ञान पुनः अज्ञान में परिणत हो जाएगा । अर्थात् वह अपने को पुनः देह भावना में दृढ़ीभूत करलेगा एवं अपने से पृथक् किसी इष्ट को मनाकर भेदोपासना प्रारम्भ कर देगा । जो उसके बन्धन का ही हेतु है । इस बात को शंकाराचार्यजी कहते हैं कि कर्म, उपासना, आत्म जिज्ञासा उत्पन्न करने तक ही उपयोगी है । चित्त शुद्धि के बाद कर्म, उपासना कोटि जन्मों में भी मोक्ष नहीं करा सकेंगे । आत्म साक्षात्कार तो सद्गुरु की कृपा से जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान द्वारा ही हो सकेगा अन्यथा किसी कर्म द्वारा नहीं हो सकेगा ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्ववोधेन मोक्षःसिध्यति नान्यथा ।। – वि.चु. : ५६

◈ ◈ ◈

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान वही है जो जीव ब्रह्म की एकता का बोध करा सके ।

''य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स सर्व भवति'' – ब्रहद. उप.

''अभेद दर्शन ज्ञानम्'' – मैत्रेय. उप.

सद्गुरु द्वारा वेद के तत्त्वमसि महावाक्य श्रवण, मनन द्वारा जब जीव अपने को ऐसा जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । तब वह आत्म स्वरूप में स्थित होने से यह सर्व रूप हो जाता है ।

'अहमैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्'

'तरति शोकमात्मवित्', 'ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति'

जो ब्रह्म को आत्म रूप से जानता है, वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है । आत्म ज्ञानी ही शोक के सागर से पार होता है ।

सो जानेहूं जेहि देहि जनाई ।
जानत तुम ही, तुमही होई जाई ।। (रामायण)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद,
निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्,
सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।। –तैतिरीय. ब्रह्मानन्द बल्ली – २.

जो जीव हृदयाकाश में स्थित बुद्धि रूप गुहा में विद्यमान सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप ब्रह्म को **'मैं' रूप से जानता है,** वह सर्वज्ञ ब्रह्म से अभिन्न होकर सब कार्यों को करता है ।

देह दृष्ट्यात् दासोऽहं जीव दृष्ट्यात्वदशंकम् ।
आत्म बुध्यात्वमेवाहमिति मे निश्चितामति: ।।

– हनुमान जी द्वारा रामको अपना परिचय

हे प्रभो ! देह दृष्टि से तो मैं आपका दास हूँ, जीव भाव से मैं आपका अंश प्रगट हूँ, **'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' 'ममैवांश जीव लोके जीव भूतः सनातनः'और शुद्ध आत्म दृष्टि से जो आप हैं वही मैं हूँ,** इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। – कठोपनिषद १–३–१४

हे अनादि काल से अज्ञान निद्रा में सोने वाले भव्य जीवों ।

उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों को पाकर उनसे ज्ञान प्राप्त करके उस परम ब्रह्म परमात्मा को पाने की युक्ति जान लो । ज्ञानी लोग कहते हैं कि ज्ञान मार्ग, जड़–चेतन ग्रन्थि भेदन के लिये उसी तरह प्रभावकारी है, जिस तरह तलवार की तीखी धार किसी के खण्डन करने में तत्कालिक फल प्रदायी हैं । तव ज्ञान मार्ग को अत्यन्त कठिन क्यों कहा ? उसका कारण यह है कि देहाभिमानी लोभी गुरु इस सत्य ज्ञान का उपदेश कर नहीं सकता और सत्य ज्ञानके वक्ता बहुत थोड़े होते हैं । यदि सद्गुरु मिल भी जाय तो बुद्धि मन्द विषयासक्त इसे ग्रहण नहीं कर सकता ।

'कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक'

किन्तु जो इस भय को त्याग कर ज्ञान हेतु चेष्टा करता है तो:–

जो निर्विध्न पंथ निर्वहई,
सो कैवल्य परमपदलहई ।
अति दुर्लभ्य कैवल्य परम पद,
संत पुरान निगम आगम बद ।।

मनुष्याणां सहस्त्रेणु कश्चित्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ।। –गीता : ७/३

हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा करता है । ऐसे हजारो सिद्धों में से कोई एक सिद्धिको त्यागकर स्वयं सिद्ध आत्मा को जानने की इच्छा करता है ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति,
नान्य: पंथा विद्यते ऽयनाय ।।

– श्वेता. उप. ६/१५

इस आत्म तत्त्व को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के पार अमृत को पा सकता है । कैवल्य मोक्ष प्राप्ति के लिए अन्य कोई मार्ग ही नहीं है ।

'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:' (वेद)

बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती । कैवल्य मोक्ष तो ज्ञान से ही हो सकती है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको
वहुनां विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां,
शान्तीः शाश्वती नेतरेषाम् ।।

– कठ. उप. २/३/१३

हे आत्मन् ! अपने अन्त:करण में स्थित इस साक्षी आत्मदेव को जो परमात्मा रूप से अनुभव करते हैं, उन्हें ही नित्य सुख कैवल्य प्राप्त होता है, ओरों को नहीं अर्थात् भेदोपासक को अखंड शान्ति नहीं मिलती है ।

कहहिं संत मुनि वेद पुराना,
नहीं कुछु दुर्लभ ज्ञान समाना ।
धरमते विरति जोग ते ज्ञाना,
ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना ।

बिनु विज्ञान की समता आवई,
कोउ अवकाश की नभ बिनु पावई ।
ज्ञानं विशिष्टं न तपादि यज्ञा,
ज्ञानेन दुर्गं तरति न यत्रे ।।

जैसा ज्ञान विशिष्ट (उत्तम) है वैसे यज्ञ नहीं है, क्योंकि जीव, ज्ञान से दुर्गम संसार (जन्म-मरण) को पार कर सकता है यज्ञों के द्वारा भव बन्धन की निवृत्ति नहीं हो सकती ।

राजविद्या राज गुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कुर्तुमव्ययम् ।।

– गीता ९/२

आत्म ज्ञान सब विद्याओं का राजा, गोपनीय वस्तु में अति गोयनीय, सर्वश्रेष्ठ, पवित्र, प्रत्यक्ष फल प्रदायक, किसी धर्म से विरोध न रखने वाला और नित्य होने से कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है ।

अत: ऐसी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हेतु श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिये ।

गुढउ तत्त्व न साधु दुरावई,
आरत अधिकारी जन जहं पावई ।।

इसलिए:-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ।।

– गीता ४/३४

उस ज्ञान को निरन्तर शास्त्र प्रमाण द्वारा सेवा तथा प्रश्नों द्वारा तत्त्वदर्शी सद्गुरु से प्राप्त किया जा सकता है । तत्त्वत्त्दर्शी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी ही इसके लिये उपदेश कर सकता है ।

तस्मै स विद्वातुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं,
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम् ।।

मुंडक उप.१-२-१३

इस तरह विधि पुर्वक आये हुए चित्त, शम दमादि गुणों से युक्त शिष्य को वह विद्वान उस ब्रह्म विद्या का ज्ञान कराता है, जो अति गोपनीय है, जिसको जानकर सत्य स्वरूप अव्यय पुरुष का ज्ञान होता है। अत: मुमुक्षु को सद्गुरु खोजने में जल्दी नहीं करना चाहिये कहा भी है:-

गुरु कीजे जानकर, पानी पीजे छान ।
बिना बिचारे जो करे, पड़े चौरासी खान ।।

'आचार्यवान् पुरुषो, वेद', सद्गुरु कृपा से ही परमात्मा को जाना जाता है ।

कर्णधार सद्गुरु दृढ नावा,
दुलर्भ साज सुलभ करि पावा ।

भवसागर से पार होने के लिए सद्गुरु ही मात्र सुदृढ नौका है जैसे सागर को बाहुबल से कोई भी तैरकर पार नहीं कर सकता उसी प्रकार सद्गुरु के बिना चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु, शंकर के समान भी क्यों न हो वह संसार सागर से अर्थात् दु:खों से सर्वथा मुक्त हो अखण्डानन्द प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई,
जो विरंची शंकर सम होई ।
पुण्य पुंज बिन मिलहि न संता,
सत संगति संसृति कर अंता ।

जब जीव के पूर्व जन्मों के पुण्य अथवा वर्तमान के निष्काम किसी सद्‌गुरु सेवा की हो तब ही उसके परिणाम स्वरूप सत्संग प्राप्त होकर दृढ ज्ञान द्वारा मोक्षानुभुति हो जाती है ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन –
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य: ।
आश्चर्य वच्चैनमन्य: श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।

– गीता २/२९

प्राय: सभी लोग अपने से पृथक् अनात्म, दृश्य, जगत् में ही सत्य एवं सुख बुद्धिकर सदा बहिर्मुखी इन्द्रिय जन विषयासक्ति में फंसे रहते हैं । कोई वैराग्यवान् भाग्यशाली विचारक ही अनात्मा से हटकर आत्मा की ओर अपनी ओर देखता है कि इसमें मैं कहने वाला कौन है ? क्योंकि प्रत्येक अंग को छूने से तो उसका पृथक् पृथक् नाम है कि यह मेरा हाथ, यह मेरा सिर, यह मेरी आंख, यह मेरा कान, यह मेरा नाक, यह मेरा मुंह यह मेरे पांव इत्यादि तब यह मेरा को बताने वाला, मेरा को सिद्ध करने वाला, यह से पृथक्, मेरा से पृथक्, इदम् से पृथक, कौन अहं, मैं है ? इसप्रकार कोई एक इस आत्मा का विचार करता है । अपने बारे में अर्थात् इस मैं के प्रति कोई विचारवान् ही आश्चर्यमय दृष्टि से श्रोताओं को युक्ति प्रमाण द्वारा समझाता है । इस आत्मचर्च्चा को भी श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक वही सुनते हैं जिनका मल, विक्षेप दोष हट चुका होता है । ऐसे सुनने वाले बहुत कम ही लोग होते हैं । इस आत्मतत्त्व को मन्दबुद्धि के लोग सुनकर भी नहीं समझ पाते हैं । अतः इस नित्य प्राप्त आत्म तत्त्व को कोई कोई ही सद्‌गुरु कृपा से जान पाते हैं ।

आत्मतत्त्व कठिन है इसलिये इसे सब नहीं जान सकते हैं ऐसा नहीं । कठिन होता तो अवश्य कोई प्राप्त कर लेता क्योंकि कठिन कार्य करने में

सभी रुचि रखते हैं । एवरेस्ट पर चढ़ना, चन्द्रमा पर पहुँचना । बच्चों को गर्भ में रखना, उन्हें पालना, खेती, व्यापार, विद्या, बिजली, रेड़ियो, टेलीवीजन, कोडलेस् फोन, बेतार का तार आदि कितने कठिन कार्य हैं इन्हे सभी कर लेते हैं किन्तु आत्म तत्त्व स्वयं होने से इसकी सरलता ही कठिन बनगई है ।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्धाऽऽश्चर्यों ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।

जैसे प्रत्येक जंगल में चन्दन नहीं, प्रत्यके सरोवर में हंस नहीं, प्रत्येक हाथी को मुक्ता नहीं, प्रत्येक सर्प को मणि नहीं, प्रत्येक मृग को कस्तूरी नहीं है । इसी प्रकार इस आत्मतत्त्व की वेदशास्त्र दुर्लभता बताते हैं ।

लोग ऐसे ग्राम एवं घर में पैदा होते हैं जहाँ उन्हें इस आत्म ज्ञान का श्रवण करने का भी अवसर नहीं मिलता है । यदि आत्मतत्त्व के कथा करने वाले उनके नगर, ग्राम में पहूँच जाते हैं तो वे सुनते हुए भी उसे समझ नहीं पाते है । जब कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु पूर्व पुण्यों के प्रताप से मिल जाते हैं तभी कोई भाग्यशाली इस देह मन्दिर में स्थित बुद्धि के साक्षी रूप स्वयं ब्रह्म को जान पाते हैं ।

जीव का देहाध्यास

ईश्वर अंश जीव अविनाशी,
चेतन अमल सहज सुख राशी ।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।

– १३/२ गीता

'अमृतस्य पुत्रा:' – वेद

ईश्वर अंश जीव साक्षात् सत-चित तथा आनन्द ब्रह्म स्वयं होते हुए भी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के धर्मों को अपने में मान मैं देह हूँ, मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, ग्रहस्थ हूँ , ब्रह्मचारी हूँ, संन्यासी हूँ, त्यागी हूँ, स्त्री हूँ, जन्म लेता हूँ, मरता हूँ, भोक्ता हूँ, आदि उपरोक्त नाना प्रकार के मिथ्या विपरित ज्ञान को प्राप्त हो गया है । वास्तव में तो जीव स्वयं देहादिक समस्त नाम, रूप क्रिया का द्रष्टा साक्षी ब्रह्म रूप है । अज्ञान के कारण वह अपने स्वरूप को नहीं जान पा रहा है । जब इस अज्ञानी जीव को कोई श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु मिल जावे एवं ब्रह्म विद्या(आत्म विद्या) का उपदेश करें तब ही इसका अनादि कालिन अज्ञान-अन्धकार नष्ट हो सकता है एवं यह अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो सकता है । अन्यथा इसी तरह जन्म-मरण के पाश में बन्धा हुआ यह दुःख भोगता रहेगा ।

आकार चार लाख चौरासी,
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।

भेदवादी गुरु प्राय: शिष्य को कहते रहते हैं कि तू ईश्वर से पृथक् कर्ता-भोक्ता है, संसारी जीव है । इस प्रकार बारम्बार के असत्य उपदेश

द्वारा उसके अज्ञान को और दृढ कराते रहते हैं एवं कहते हैं कि इस मन्त्र का जाप करो, यह पूजा करो, यह पाठ करो तब उस ब्रह्मा को प्राप्त कर सकोगे । इस प्रकार के उपदेश एवं निश्चय से जीव की देहात्म बुद्धि ही दृढ होती चली जाती है । जब जीव के अनन्त जन्म के पुण्यों का उदय होता है तब आत्म प्रभु की कृपा से वेदान्त शास्त्रों का यथार्थ तत्त्ववेत्ता एवं ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु मिलता है । तभी वह सद्गुरु उसकी मुमुक्षुता को देख उसे ब्रह्म स्वरूप का बोध कराकर जन्म-मरण के पाश से सदा के लिए मुक्त करा देता है ।

हे आत्मन् ! तू मनुष्य नहीं है, तेरा देह मनुष्य का है, तू तो देह का द्रष्टा है । देह तो जड़ है, तू आत्मा देह से भिन्न है, तू मनुष्य उपाधि में छुपा ब्रह्म है । अज्ञान उपाधि के कारण तुझे ऐसा भ्रम हो गया है कि मैं जीव हूँ । तू विचार करके देख कि तेरे इस शरीर में जो अहंकार है वह संसारी सुखी-दुःखी, कर्ता भोक्ता दृश्य जीव है और तू इसका द्रष्टा है । देख, देह के तथा तुझ आत्मा के कोई एक गुण भी तो तुझसे नहीं मिलते, फिर तू कैसे कहता है कि मैं देह हूँ ।

हे आत्मन् ! ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द आदि लक्षण तेरे आत्म स्वरूप में भी मिलते हैं । जिस तरह ब्रह्म सत्य है, उसी तरह तू (आत्मा) सत्य है,क्योंकि जो तीनों कालों में रहे उसे सत्य कहते हैं । 'नभावो विद्यते सतः' । अतः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में तू पाया जाता है इसलिए तू सत् रूप है एवं जैसे ब्रह्म ज्ञान स्वरूप (चित) है, उसी प्रकार तू भी तीनों अवस्थाओं को जानता है इसलिए चित (ज्ञान) रूप है और ब्रह्म जैसे आनन्द रूप है वैसे ही तू भी तीनों अवस्था एवं तीनों कालों में परम प्रेमास्पद है, इसलिए तू परम आनन्द रूप ही है । क्योंकि तीनों कालों में जो प्रिय लगे वह आनन्द ही है ।

हे आत्मन् ! ब्रह्म की तरह तू अस्ति, जायते, म्रियते आदि छः विकारों से रहित है । यह तेरा दृश्य देह असत्य जड़ तथा दुःख रूप एवं

विकार वाला है, इस देह के साथ तेरा कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है केवल तेरे स्वरूप का तुझे अज्ञान होने से ही तूने सुख-दुःख कर्तृव्य-भोकतृत्व, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि अन्त:करण के धर्मों को भ्राँति से अपने में आरोपित कर लिये हैं । वस्तुत: तू शुद्ध ब्रह्म है । तेरे में संसार नहीं इसी प्रकार तू देह नहीं है, इसकी पुष्टी हेतु भागवत के एकादश स्कंध २८ वें अध्याय में भगवान ने उद्धवजी के प्रति कहा है:-

शोक हर्षभय क्रोध लोभ मोह स्प्रद्धायय: ।
अहंकारस्य दृश्यतेजन्म मृत्युश्चनात्मन: ।।

शोक (दु:ख), प्रसन्नता, भय, लोभ, मोह, स्पृहा (इच्छा) जन्म-मृत्यु, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि, समस्त धर्म अहंकार में दिखाई पड़ते हैं, जो सूक्ष्म शरीर का अंग है । अगर आत्मा के ये धर्म होते हैं तो सुषुप्ति तथा समाधि आदि अवस्थाओं में भी आत्मा तो रहती ही है, किन्तु वहां अहंकार के उपरोक्त समस्त परिणाम लीन अवस्था में रहते हैं एवं जाग्रत अवस्था में आने पर पुन: अहंकार के परिणाम सुख-दु:खादि समस्त द्वन्द्व अन्तःकरण में दिखाई पड़ते हैं, तुझ में नहीं है इसलिए तू आत्मा निर्विकार है ।

जब तत्त्व ज्ञान का बोध कराने वाला कोई सद्गुरु मिल जाता है तब जाकर जीव का देहात्म भाव का नाश होकर, मैं ब्रह्म हूँ इस निश्चय की प्राप्ति हो जाता है । तभी जीव संसार के दु:ख से मुक्त हो सकता है । अन्यथा मानव जन्म पाकर भी विषयों की प्राप्ति में ही जीवन समाप्त कर पशु योनियों में जाना पड़ता है ।

आत्म बोध बिना मनुष्य जन्म समाप्त हो जाने पर अपने पाप कर्मों के अनुसार पशु योनियों को धारण कर भार ढोता हुआ महादु:ख भोगता है । चलते नहीं बनने पर भी डन्डे द्वारा पीटा जाता है । तथा उस डन्डे में लगी लोह की नुकीले कांटे द्वारा चलाया जाता है । थक कर गिर जाता है तो

और जोरों से पीट जाता है एवं चलते–चलते पैर में कील–कांटो के लग जाने पर भी वह बता नहीं सकता, न उसे निकाल सकता है । फिर भी बेचारा दम तोड़ भागता रहता है । भूख लगने पर घास तथा प्यास लगने पर पानी भी अपने मुँह से नहीं मांग सकता । जितना मिल जाये उसी में संतोष करना पड़ता है । शरीर में कोई कष्ट हो तो वह भी नहीं बता सकता है एवं मालिक के चलाये जाने पर काम पर जाना ही पडता है इस प्रकार पशु जीवन में सब स्वतन्त्रता जीव की छिन जाती है ।

ओह ! कितना कष्ट भोगना पडता है कि चलते–चलते थक भी जावे तो भी नहीं बना सकता कि अब मुझ से चला नहीं जाता, मुझे मत मारो, मुझे छोड़ दो, मैं थक गया हूँ आराम कर लेने दो, घास–पानी मुझे दे दो । यह सब दुःखों का एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य जन्म पाकर आत्म ज्ञान उपलब्धी हेतु प्रयत्न नहीं किया । उसी का यह फल है कि इस जीव को पुनः पुनः चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है एवं जन्म मरण का महा दुःख भोगना पड़ता है । अतएव जीव का भला इसी में है कि वह मानव देह पाकर विषय भोग में ही समय नष्ट नहीं करे बल्कि उसे इसमें अखण्ड आनन्द पाने हेतु, मुक्ति पाने हेतु पुरुषार्थ करना चाहिये ।

यह तन कर फल विषय न भाई,
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःख दाई ।। – रामायण
जन्मत मरत दुसह दुःख होई । – रामायण

संसार में अगर कोई सबसे बड़ा दुःख है तो वह माँ के गर्भ में बारम्बार जाना एवं अगर कोई सबसे बड़ा सुख है तो माँ के गर्भ से मुक्त होना । अतः जो मनुष्य जन्म पाकर आत्म ज्ञान लाभ नहीं करते उन्हें फिर ८४ लाख योनियों में अनेक प्रकार का दुःख भोगना ही पड़ता है ।

जब जीव माँ के गर्भ में जाता है तब वहाँ नौ माह रहता है उसकी वह दशा तो ओह ! वर्णन भी नहीं की जा सकती । उस वक्त वहाँ उसे मल,

मुत्र, रक्त, मांस तथा पीप, कफ, रज, वीर्य, के मध्य रहकर कृमी तथा जठराग्नि की तपन आदि के महाकष्ट के साथ उल्टा लटकना होता है । वहाँ इस जीव को दूषित विषेली वायु तथा गंदी बदबू एवं अंधकार को छोड़ कुछ भी नहीं मिलता । माँ द्वारा खाये गये गरम, खट्टे कड़वे, तीखे पदार्थों के रस द्वारा शरीर पोषित हुआ करता है किन्तु मुंह से कुछ भी नहीं कह पाता है कि तुम्हारे गरम, तीखे, कड़वे पदार्थ का रस तेजाव की तरह जलाते हैं । गर्भवास ही सबसे बड़ा साक्षात् नरक है । जीव के गर्भवास के समय स्त्री के साथ पुरुषों के बलात्कार से उसे कितने वेदना, दबाव, चोंट सहन करना पड़ती है उसका तो कहना भी सम्भव नहीं है ।

जन्मते समय तथा मरते समय का दु:ख कहा नहीं जा सकता । मनुष्य जन्म में भी बाल्यकाल पराधीन रहता है, जो माँ ने दिया वह खाया जैसी हालत में रखा, पहनाया, सुलाया वैसा रहना पड़ा । कुछ भी आग्रह करने से असहनीय मार खानी पड़ती है । दुष्ट, निर्दयी माता-पिता, गुरु, बच्चे को ऐसा मारते हैं कि उसके हाथ, पैर, आँख, कान तक क्षत होते देखे जाते हैं । फिर योवनावस्था में विषयों की पराधीनता, बुढ़ापे में नाना प्रकार के रोग, शरीर अशक्त हो जाने पर स्त्री, पुत्रादि से अपमान, फिर मरते समय असंख्य बिच्छुओं के दंश के समान असहनीय वेदना । इस तरह अज्ञानी, पराधीन जीव बारम्बार जन्म मरणादि महा दु:खों को भोगा करते हैं ।

जब किसी संस्कारी जीव को चौरासी लाख योनियों के प्रत्यक्ष असहनीय दु:खों का स्मरण कर मन में उससे मुक्त होने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह दु:ख कैसे मिट सकता है ? तब वह किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जा कर श्रद्धा पूर्वक सेवा से उन्हें प्रसन्न कर, अपने कल्याण सम्बन्धी प्रश्न करता है कि मैं कौन हूँ ? आत्मा कौन है ? परमात्मा कौन है ? मेरा जन्म-मरण कैसे छुटेगा ?

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।
मृत्योर्माऽअमृतं गमय ।।।

देहात्म बुद्धिजं पापं न तद कोटि गोवध भिः ।
आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।

– आत्म पुराण

देह को मैं मानने से जितना पाप होता है उतना करोड़ों गायों की हत्या करने से भी पाप नहीं होता है । तथा मैं देह से पृथक् द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ एसा जानने वाला जितना शिघ्र कल्याण को प्राप्त होता है वैसा कल्याण किसी महान् से महान दान, तप, यज्ञादि द्वारा भी नहीं हो सकता ।

यह आत्मा स्वयं प्रकाश, पांचों कोशों से पृथक् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का साक्षी, त्रिकाल में नष्ट न होने वाला (त्रिकाल–अबाधित) षड़ विकारों से रहित नित्य शुद्ध स्फटिकवत् नित्यानन्द स्वरूप है । उसे ही विवेकी पुरुष अपना वास्तविक स्वरूप (आत्मा) पहचाने ।

विवेक–वैराग्य – इन दो धर्मों के तीव्र होने से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु होता है । अतः पहले बुद्धिमान मुमुक्षु के विवेक ज्ञान तथा वैराग्य दोनों ही दृढ़ होना चाहिये ।

देहाध्यास कैसा है ?

देह में मैं पने की बुद्धि का ही नाम देहात्म बुद्धि या देहाध्यास है । जीव स्वरूप से अमृत की संतान होने से सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म ही है, अन्य नहीं ।

जीवो ब्रह्मेव ना पर: – शंकराचार्य

जीवो शिव: शिवो जीव: स जीव: परम: शिव:

– स्कन्द पुराण ६७

जीव का अनादि से देहाध्यास होने के कारण वह आज तक अपने को देह ही मानता आरहा है । सद्‌गुरु उपदेश बिना जीव का अनादि देहाध्यास अन्य किसी साधन द्वारा निवृत्त नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञानकृत देहबोध आत्मज्ञान द्वारा ही निवृत्त होता है, अन्य साधन द्वारा नहीं ।

एक भेड़ों का चरवाहा जंगल से शेरनी का नवजात बच्चा उठा लाया व उसे अपनी भेड़ों के साथ पालने लगा । वह शेर का बच्चा भेड़ों के साथ नियमित जंगल में जाने लगा । शेर को घास खाने की प्रकृति न होने से और उसे ताजा मांसाहार न मिलने से वह धीरे–धीरे कमजोर होता जारहा था । एक दिन वह कमजोर पालतु शेर घने जंगल में अपने भेड़ साथियों सहित भोजन की तलाश में जा रहा था । अचानक वहां शेर के दहाड़ने की आवाज सुनते ही सब भेड़ें भागने लगी । भेड़ों को भागता देखकर वह पालतु शेर भी अपने में भेड़पने के जन्मजात देहाध्यास होजाने के कारण भागने लगा । यह देखकर जंगल वाले शेर ने उस गृह में पाले शेर को कहा कि तू भेड़ों के साथ क्यों भाग रहा है तू तो मेरी जातवाला शेर है । मेरी

आवाज के कारण तू इतना भयभीत क्यों हो गया ? तब उस पालतु शेर ने कहा मैं तो भेड़ हूँ, मैं शेर नहीं हूँ। तुम जंगली शेर मुझे खा जाओगे। इस भय से मैं अपने साथियों के साथ दौड़ रहा था। अब मुझे घर जाने दो अन्यथा मेरा मालिक मुझे मारेगा। तब उस जंगली शेर ने फिर कहा कि तू भेड़ नहीं है, तू मेरी जाति का शेर है। देख तेरे और मेरे मुख, चर्म, पूंछ, पंजा, कमर, आहार आदि सब लक्षण मिलते हैं। किन्तु भेड़ के साथ तेरा कोई भी लक्षण नहीं मिलता है। अत: तू निश्चय कर कि मैं शेर हूँ भेड़ नहीं। इस प्रकार जंगली शेर के उपदेश द्वारा चरवाहे द्वारा पाला हुआ शेर अपने को भेड़पने के भ्रम से मुक्त कर अपने यथार्थ स्वरूप शेर का निश्चय कर निर्भयता को प्राप्त हो गया।

यहां विचार कीजिए कि क्या इस जंगली शेर ने पालतू शेर को ''मैं शेर हूँ'' इस प्रकार मन्त्र का जाप करने या रोज ध्यान करने को कहा था। अथवा रोज उठकर दण्ड-बैठक किया कर तब कालान्तर में तू शेर बन जावेगा। अथवा मुझे गुरु मान प्रणाम किया कर, तब तू शेर बन सकेगा ? नहीं ! ऐसी चालाकी जंगली शेर ने अपने सजातीय पालतु शेर से नहीं की। क्योंकि वह इमानदार जंगली शेर जानता था कि यह तो स्वयंसिद्ध शेर ही है केवल जन्म से ही भेड़ होने का इसे भ्रम हो गया है। जंगली शेर ने पालतु शेर के लिये विचारा कि इस स्वरूप अज्ञानकृत भ्रम की निवृत्ति केवल इसके शेर स्वरूप ज्ञान द्वारा ही हो सकती है इसके भेड़ भ्रम को दूर करना ही एकमात्र उपाय।

आश्चर्य की बात है कि **तत्त्वमसि, वह परमेश्वर तू है ! 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी', 'ममैंवांश जीव लोक जीव भूत: सनातन', 'अमृतस्य पुत्रा' तू अमृत की संतान है** ऐसा वेद उपनिषद उद्घोष कर रहे हैं। किन्तु नामधारी भेद वादी गुरु इस यथार्थ बोध से उसे अवगत न करा, तू जीव है, तू पापी है, तू कर्ता-भोक्ता है, तू अधिकारी

नहीं है । अभी कुछ समय अभ्यास कर तब तू शुद्ध होगा, तब तुझे परमात्मा की प्राप्ति होगी । इस प्रकार दंभी गुरु अपनी गुरुता बनाये रखने हेतु जीव को उसके वास्तविक स्वरूप बोध से वंचित कर अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु शिष्यों का तन, मन, धन का हरण करते रहते हैं । अब यह प्रश्न होता है कि शेर को भेड़ भ्रम क्यों हुआ ?

शेर मांसाहारी पशु होने से उसकी आंखे जन्म के समय नहीं खुलती है अपितु सात दिनों बाद ही खुलती है । जन्म जात शेर के बच्चे को चरवाहा चुरालाया था इस कारण वह अपने व माता-पिता के रूप का दर्शन नहीं कर पाया था । सात दिन बाद जब आंख खुली तब उसने अपने सहित अपने चारों ओर भेड़ों के समूह को देख यही निश्चय कर लिया कि मैं भेड़ हूँ ।

उसी प्रकार जीव जिस परिवार में जन्मता है उस परिवार के लोग उसे बुद्धि विकास के पूर्व ही देहाध्यास दृढ़ीभूत करा देते हैं एवं जब उसकी वाणी एवं बुद्धि का विकास होता है तब वह भी अपने को माता-पिता के बताये अनुसार नाम, रूप, जाति वाला मानने लगता है । एक ज्ञानी माता मदालसा थी वह अपने जन्म जात बालकों को 'तत्त्वमसि' का यथार्थ ज्ञान करादिया करती थी तो वे बालक बड़े हुए तब वे बड़े होकर अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग, अजन्मा, अमृत अद्वितीय आत्मब्रह्म ही मानते थे । उन्हें देहाध्यास न होने से वे सहज ही मुक्त हो जाते थे । अस्तु ! जीव स्वयं शिव ही है ऐसा इसे देह, नाम, जाति की निष्ठा की तरह निश्चय कर सोऽहम् वृत्ति द्वारा जीवन मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिये ।

देहाध्यास से छुटकारा

इस शरीर रूपी नगरी में ही आत्म पुरुष रूपी राजा राज्य करता है । अस्तु ! इस आत्म साक्षात्कार के लिए इस देह नगरी के प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अवस्था आदि का परिचय करते हुए क्रमश: आगे बढ़ने से वहां स्थित आत्म पुरुष रूपी राजा से समागम होकर ही यह जीव जन्म-मरण रूप दु:ख से मुक्त हो सकेगा । अत:आत्म ज्ञान हेतु देह व आत्मा का पृथक्-पृथक् ज्ञान प्रथम आवश्यक है । देह एवं आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर सत्य आत्मा से अनुराग एवं मिथ्या देह से वैराग्य अर्थात् मैं-मेरा भाव दूर होते ही जीव इसी जीवन में, तुरन्त परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाती है ।

यद्यपि श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषदों को सब पढ़ते हैं, किन्तु उनका मर्म किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा ही जाना जा सकता है । शास्त्रों को अपने मन से पढ़ कर तत्त्व दर्शन नहीं हो सकता । आत्म बोध इच्छुक मुमुक्षु को सद्गुरु के वचन पर विश्वास करते हुए एकाग्र मन से श्रवण करना चाहिए । उस श्रवण किए विषय को युक्ति पूर्वक मनन व निदिध्यासन करना चाहिए । अर्थात् एकाग्र चित्त द्वारा गुरुमुख से महावाक्य के तात्पर्य सहित वेदान्त शास्त्र का श्रवण करना तथा उस श्रवण किये हुए उपदेश को युक्ति तथा द्रष्टान्त से जिस तरह संशय रहित हो सके उसी रीति से मनन करना चाहिए । जैसे गाय तृप्ति हेतु घास खाने के बाद बैठकर पुन: चबाया करती है उसी प्रकार एकान्त में बैठकर मनन करें । फिर मनन किये का निदिध्यासन करने से स्वरूप बोध रूपी तृप्ति होती है ।

वेदान्त के **'तत्त्वमसि'** आदि महावाक्यों का बारम्बार विचार करने से अभेद ज्ञान का तात्पर्य समझ में आता है, जिससे आत्म ज्ञान पुष्ट होता है । इस तरह मनन करने के बाद सजातीय प्रत्यय के प्रवाह और विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार रूप निदिध्यासन करना चाहिए । जिससे हमें आत्मा का अनुभव निरन्तर हर अवस्था में होता रहे । सजातीय प्रत्यय का प्रवाह याने **'मैं सत्, चित्, आनन्द, कुटस्थ, अक्रिय, अजर, अमर, पूर्ण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ –** इस प्रकार की यह ज्ञान रूप वृत्ति का प्रवाह सतत् रखना चाहिए । तथा विजातीय प्रवाह का तिरस्कार याने **मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, पिता–माता, पति–पत्नी, पुत्र–पुत्री, गुरु–शिष्य बाल, युवा, वृद्धा, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि कुछ नहीं हूँ !** न मैं पुरुष न स्त्री, न दु:खी, न सुखी, न कर्ता, न भोक्ता, न जन्म, न मृत्यु वाला हूँ ।

इस प्रकार ज्ञान पूर्वक देहाध्यास का बारम्बार तिरस्कार करने से देहात्म बुद्धि नष्ट होकर ''मैं आत्मा निर्विकार शुद्ध ब्रह्म–स्वरूप हूँ ।'' ऐसा साक्षात् आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जावेगा । फिर अपने आत्म स्वरूप में किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रहेगा । परन्तु प्रथम बन्धन को पहचानना आवश्यक होगा तभी तो उसे समझकर दूर करने का उचित उपाय भी कर सकेंगे । यदि बन्धन ही नहीं जाना तो उसकी निवृत्ति किस साधन से होगी एवं उसकी निवृत्ति भी हुई है या नहीं, बन्धन भी है या नहीं, यह भी ज्ञात न हो सकेगा । अत: यह बन्धन का सर्वप्रथम रूप जानना जरूरी है ।

मैं अरु मोर तोर ते माया,
या बस जीव रहा विलगाया । – रामायण
अहं ममेत्ययं बंधो, नाहं ममेति मुक्तवा ।।

यह देह मैं हूँ और यह देहादिक मेरा है ऐसा जानना ही बन्धन का रूप है । यह बन्धन, स्वरूप बोध के अज्ञान के कारण ही होता है । अर्थात् स्वरूप का अज्ञान होना ही बंधन का सारभूत कारण है । जैसे - **देह मैं नहीं, देह के समस्त कार्य मेरे नहीं है, इस प्रकार देहादिक में अहंता-ममता की जो निवृत्ति होती है, वही मोक्ष का स्वरूप है ।** जहाँ तक मैं-मेरा, तू-तेरा है वहीं तक माया है, जहाँ तक माया है वहाँ तक बन्धन । अतः इस मैं-मेरे एवं तू-तेरे भेद दृष्टि को समाप्त कर एक ब्रह्म दृष्टि का प्राप्त होना ही मुक्ति है । आत्माकार वृत्ति का प्राप्त होना ही ब्राह्मी स्थिति है, वही आत्म साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन अथवा परमानन्द प्राप्ति है ।

हे आत्मन् ! शरीर में बचपन, यूवा, प्रोढ तथा वृद्धावस्था उदय होती है एवं ढल जाती है । बचपन का शरीर किशोरावस्था में नहीं रहता, किशोरावस्था का शरीर युवा अवस्था में नहीं रहता । युवावस्था वाला शरीर और उसका तेज, बल प्रोढ़ावस्था में नहीं रहता एवं प्रोढ़ावस्था वाला शरीर वृद्धावस्था में नहीं रहता । किन्तु भीतर कोई ऐसा अचल तत्त्व है जो शरीर के समस्त परिवर्त्तनों का साक्षी बना रहता है । शरीर कितना ही दौडे किन्तु साक्षी ज्यों का त्यों अचल, अडोल ही बना रहता है । रोग-भोग, मानापमान, हर्ष-शोक, लाभ-हानि, संयोग-वियोग की घटना जीवन में घटती रहती है किन्तु तुममें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता । भूख-प्यास धर्म प्राण के इस शरीर में है । सुख-दुःख मन के धर्म है एवं जन्म-मृत्यु इस दृश्य शरीर का धर्म है । लेकिन आप इन समस्त परिवर्तनों के द्रष्टा साक्षी आत्मा इस सम्पूर्ण देहसंघात से पृथक् एवं असंग है । जीव का वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है किन्तु देहाध्यास के कारण ही वह ८४ लाख योनियों का कष्ट भोगता रहता है ।

देह का द्रष्टा

जिज्ञासु को विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता साधनों से युक्त हो सद्गुरु की शरण में जाकर उनके उपदेशों से आत्मा-अनात्मा का विचार कर उनसे आत्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । उस आत्म निष्ठा से देहसंघात का अभिमान दूर हो जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

यह शरीर पंच भूत का कार्य होने से घट की तरह दृश्य एवं अनात्मा है । जैसे घट को देखने वाला घट से भिन्न है, वैसे ही शरीर का द्रष्टा आत्मा भी शरीर से भिन्न है । जैसे घट के प्रकाशक सूर्य का, घट नाश से नाश नहीं होता, उसी प्रकार देह का प्रकाशक आत्मा देह नाश से नष्ट नहीं होता ।

घटावभासको भानु घट नाशे न नश्यति ।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ।। – आत्म प्रबोध १८

मैं देह से पृथक् इसका द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ ऐसा जान लेने पर यह बोध होगा कि शरीर जड़ एवं विकारी है, और मैं निर्विकार चैतन्य आत्मा हूँ । शरीर की बाल्य, युवा, वृद्धा, आदि कोई अवस्था मेरी नहीं है । नाम, वर्ण, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम तथा जन्म-मृत्यु धर्म शरीर के हैं । मुझ द्रष्टा, साक्षी, आत्मा के नहीं है । ऐसा बोध हो जाने पर देहाभिमान का नाश हो जाता है । ज्ञान की प्राप्ति विवेक से एवं विवेक की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा प्राप्त सत्संग लाभ बिना अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती । करोड़ों जन्मों तक जप, तप, ध्यान, भजन, दान, व्रत, यज्ञ तथा समाधि आदि साधन करने पर भी नित्यानित्य, सत्यासत्य, जड़-चेतन का विवेक जाग्रत नहीं हो पाता है ।

'बिनु सत्संग विवेक न होई' – रामायण

यदि किसी व्यक्ति से पूछे कि आप क्या है ? आप कौन है ? तो वह अपने को प्रान्तिय भाषा से जोड़कर बता देता है कि मैं गुजराती, पंजाबी, उड़िआ, बंगाली, बिहारी हूँ । पर यह तो भाषा बोलने के बाद का है जब यह पारिवारिक भाषा बोलना नहीं आया था उस समय भी तो आप थे तब आप क्या थे ? यह जो परिचय दिया जाता है मैं चित्रकार, गायक, नृत्यकार, स्वर्णकार, मूर्तिकार, डाक्टर, चीफ्इन्जीनीयर, प्रोफेसर, वकील हूँ यह भी आप का असली परिचय नहीं है । यह सब तो उपाधियाँ है जो आपने समाज से सीख प्राप्त की है ।

यदि हाथ कट जाय, आंख से रोशनी चली जाय, गला बन्द हो जाय, टांग टूट जाय, पद चला जाय तब आप अपने को गायक, नृत्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार, डाक्टर, सिद्ध नहीं कर पायगे । तब आप अपने को क्या सिद्ध कर सकेंगे कि मैं यह हूँ ? लोग जो काम करते हैं उसके द्वारा अपना परिचय शिघ्रता से देते हैं किन्तु उन्हें उसका पता ही नहीं है जो वे स्वयं है ।

स्वभाव का अर्थ है जो मैं हूँ किसी के बिना बताये । किसी की सहायता के, बिना चेष्टा के, बिना प्रयत्न के, बिना अभ्यास के, बिना सिखाये, बिना शिक्षा के, बिना पद के, बिना उपाधिके । अतएव इन समस्त उपाधि के बिना जो मैं हूँ वह मेरा असली स्वरूप है । उसको जान लेना ही ब्रह्म को जान लेना है ।

जीव का जब यह देह समाप्त हो जाएगा, तब यह नाम,जाति, पद, उपाधि भी समाप्त हो जाएगी । नूतन जन्म लेकर यह जीव फिर किसी नूतन नाम, जाति का अहंकार पुनः धारण करलेता है । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे मैं यह नाम, जाति, भाषा वाला नहीं हूँ इसी प्रकार मैं शरीर भी नहीं हूँ । तब आप केवल एक निराकार आत्मा ही रह जाते हैं और यही आपका सच्चा परिचय है ।

दु:खों से छुटकारा

देह से पृथक **'मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ'** । इस बोध हेतु जीवात्मा-परमात्मा का अभेद निश्चय एवं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होना परम आवश्यक है । इस अज्ञान की निवृत्ति हेतु क्षेत्र अर्थात् शरीर और जो जीवात्मा इसमें स्थित है, उस क्षेत्रज्ञ का पृथक्-पृथक् गुण स्वभाव युक्त ज्ञान का होना आवश्यक है । इस ज्ञान के अभाव के कारण जीव अनादिकाल से देहात्म बुद्धि को प्राप्त हो पंच महाभूतों के शरीर एवं उसके कार्य को ही मैं एवं मेरे कार्य अर्थात आत्मा का कार्य मानता हुआ जन्म-मरण के असहनीय दु:खों को भोगता हुआ चला आ रहा है ।

आकर चार लक्ष्य चौरासी,
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।

जब तक जीव को देह से पृथक् मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ इस प्रकार बोध नहीं होगा तब तक यह जीव आगे भी इसी प्रकार जन्म-मृत्यु का दुःख भोगता रहेगा एवं दु:खमय नश्वर शरीर से मुक्त नहीं हो सकेगा । यह शरीर अनात्मा होने से अग्नि द्वारा जल जाता है, शस्त्र द्वारा कट जाता है, पानी द्वारा भीग जाता है, पवन द्वारा सुख जाता है किन्तु मैं आत्मा इन शस्त्र, अग्नि, पवन एवं जल द्वारा नष्ट नहीं होने से मैं सच्चिदानन्द अद्वय स्वरूप हूँ तथा यह दृश्य देह असत् जड़, दु:ख तथा द्वैत रूप मैं नहीं हूँ ।

क्षिति जल पावक गगन समीरा,
पंच रचित अति अधम शरीरा ।। – रामायण

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमुढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

– गीता : ३/२७

पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों के द्वारा इस क्षेत्र अर्थात् शरीर की उत्पत्ति शास्त्रों में मानी गई हैं । यह शरीर उस जीव अर्थात् क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के रहने का घर है । यह न पूर्व में था, न आगे रहेगा, केवल मध्य में ही अर्थात् वर्तमान काल में ही दिखाई देता है । देह से पृथक् मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस प्रकार न जानने वाला अज्ञानी इस नश्वर देह में मैं बुद्धि कर अपनेको कर्ता–भोक्ता भावकर संसार बन्धन को प्राप्त होता है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यान्यानि संयाति नवानि देही ।। – गीता : २/२२

गीता अध्याय २ श्लोक २२ के अनुसार जीव आत्मा इस शरीर के भोग पूर्ण हो जाने पर पुराने वस्त्र की तरह त्याग देता है, एवं पुनः नये शरीर धारण कर लेता है । अध्याय ९ श्लोक ३३ के अनुसार यह शरीर अनित्य एवं सुख रहित बताया गया है ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

– गीता : ९/३३

इस अनित्य क्षणभंगुर शरीर एवं सुखरहित संसार में नित्य परमात्मा का अभिन्न ज्ञान करना चाहिये कि वह परमात्मा मैं हूँ । वही इस तलवार के तीक्ष्ण धार वाले संसार में चलकर जीवनमुक्ति प्राप्त कर सकता है । इसी हेतु से मानव जीवन की महत्ता शास्त्रों में बतलायी गई है कि –

नर तन सम नहिं कवनेहु देही,
जीव चराचर याचत जेही ।

बड़े भाग्य मानुष तन पावा,
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थहिं गावा ।
जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाई ।
सो कृत निंदक मंदमति आतम हन गति जाई ।।
ते जड़ जीव निजात्मक घाती,
जिनही न रघुपति कथा सोहाती ।।

नश्वर क्षणभंगुर दृश्य देहों में अविनाशी, अजन्मा, द्रष्टा, साक्षी, ज्ञान स्वरूप, एक सत आत्मा समान रूप से विद्यमान रहता है । यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच प्राण एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि दृश्य देह संघात मैं नहीं हूँ, इसलिए इसके कार्य मेरे कार्य नहीं है । यह सिद्धांत है कि जो मन कर्म का कर्ता होता है, वही सुख-दुःख रूपी फल का भोक्ता भी होता है । किन्तु मैं अकर्ता-अभोक्ता अविनाशी एवं अविकारी आत्मा हूँ । ऐसा निश्चय ही मुक्तिदायक है शेष कर्म साधन, भावना भक्ति योगादि बन्धन रूप ही है ।

यदि हमारे दुःखों का कोई एक कारण है तो वह यही है कि हमने दृश्य देह के साथ एवं उसकी अवस्था के साथ एकता (तादात्म्यता) कर वैठे हैं । यही हमारा दुःखों का मूल कारण है । देखने वाला दिखाई पड़ने वाले दृश्य शरीर के साथ, जानने वाला जानने में आनेवाले दर्द के साथ, अपने को अभिन्न समझकर जन्म-मरण रूप दुःख पाता है ।

हमें दुःख मालुम पड़ता है फिर दुःख का अभाव हो जाता है । हमें सुख लगता है फिर उसका भी अभाव मालुम पड़ता है । हमें दर्द मालुम पड़ता है, फिर दर्द, पीड़ा का अभाव हो जाता है । वह भी हम जानते हैं । किन्तु इन प्रकट होने वाले, नष्ट होने वाले, आने-जाने वाले अतिथीयों से हम घर के मालिक जुदा हैं । तभी तो हम इन्हें आते-जाते देखते हैं । हम कहीं आते-जाते नहीं । हम केवल प्रत्येक परिवर्तनों को देखते रहते हैं ।

देखा जाता है मुरलीधर, धनुषधर, गदा-शंख-चक्र-पद्म धारी अपने धारण किये मुरली, धनुष, शंख, चक्र, गदा, पद्म से पृथक् ही होते हैं । इसी तरह देहधारी जीव देह से पृथक् ही है । जैसे मोटर में बैठने वाले, ट्रेन मैं बैठने वाले, हवाई जहाज में बैठने वाले मोटर, गाड़ी, ट्रेन, हवाई जहाज से भिन्न है । इसी प्रकार देह में रहने वाला देह से भिन्न है । जैसे घोड़े का सवार घोड़ा नहीं, कार का सवार कार नहीं, इसी प्रकार देह का सवार स्वयं देह नहीं है ।

यदि बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रोढ़ावस्था, वृद्धावस्था का अभिमान करने वाला पृथक् पृथक् होता तो अवस्थाओं के बदल जाने पर उन अवस्थाओं का अभिमान करने वाला भी बदल जाता । तो फिर बाल्यावस्था का स्मरण युवावस्था में, युवावस्था का स्मरण प्रोढ़ अवस्था में, प्रोढ़ अवस्था का स्मरण वृद्धावस्था में किसी को भी नहीं हो पाता । लेकिन मैं बचपन को, खेल कूदों को, यहाँ के मित्रों को, उन घटनाओं को, तब की मार-पीट को, जवानी के सुख-दुःख को, तब के रोग-भोगादि को एवं वृद्धावस्था की वर्तमान स्थिति को ज्यों का त्यों एक रस होकर जानता रहता हूँ । यदि मैं किसी एक बाल, युवा, वृद्धावस्था वाला होता तो उसके अतिरिक्त अन्य पूर्व पश्चात् अवस्थाका स्मरण नहीं करपाता । अतः देह के समस्त परिवर्तनों को जानने वाला देह से पृथक् मैं सदा एकरस रहता हूँ ।

जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) का ज्ञान

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्व भारत । – गीता २–३०

यह अविनाशी आत्मा सभी नाशवान शरीरों में विद्यमान है । इसलिये किसी के देहनाश होने पर दुःखित नहीं होना चाहिये ।

नित्य: स्वर्गत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन: । –गीता २/२४

यह आत्मा नि:सन्देह नित्य, सर्व व्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है ।

अजो नित्य: शाावतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे । –गीता : २/२०

जो यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत् और पुरातन है और शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता है वही ''मैं'' आत्मा, 'क्षेत्रज्ञ' के नाम से बताया गया है । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इस सिद्धान्तानुसार वह जीवात्मा मैं स्वयं ही परमात्मा हूँ ।

इस प्रकार उपरोक्त क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का पृथक्–पृथक् ज्ञान एवं जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान ही मुक्ति प्राप्ति का सच्चा साधन है । यह ब्रह्म स्वयं ज्ञान स्वरूप है, यही जानने योग्य है, एवं ज्ञान रूप साधनों से ही यह मिलता अर्थात् जाना जाता है । जो सब प्राणी मात्र के शरीरों में मृग कस्तूरी वत् समान रूप से विद्यमान भी है । उसे ढूंढने हेतु कहीं बाहर देश में खोजने की आवश्यकता नहीं है । केवल स्वरूप ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञान को प्राप्त कर ही जीव मोक्ष

पा सकता है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

– गीता : १३/१७

इस प्रकार आत्मा एवं गुण, कर्म सहित प्रकृति अर्थात् शरीर को जो तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से कर्म करते हुए भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।।

– गीता : १३/२३

यह आत्म ब्रह्म यद्यपि समस्त इन्द्रियों के गुणों से रहित होते हुए भी क्षेत्र अर्थात् शरीर में रहने के कारण अज्ञानी जन शरीर के कार्य को मैं, आत्मा के कार्य मान लेने से बारम्बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं । इस 'मैं' स्वरूप आत्मा को जो विवेकी पुरुष ध्यानयोग, कर्मयोग, सांख्ययोग अथवा श्रद्धापूर्वक किसी तत्त्वज्ञ से जान लेता है, वह भी अपने देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन से पृथक् मैं अजन्मा, अविनाशी स्वरूप आत्मा हूँ, स्वरूप निश्चय रूप उपासना करके जन्म-मरण के भय से मुक्त हो अजन्मा-अविनाशी गति को ही प्राप्त कर लेता है ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

– गीता : ५/१८

तत्त्वदर्शी समस्त संसार के जड़-चेतन प्राणियों में इस आत्म स्वरूप परमात्मा को समान भाव से देखता है और समस्त प्राणियों के देह नाश हो जाने पर भी इस आत्मा को नाश न होने वाला जानकर मोहित अथवा दुःखी नहीं होता है । **देहनाश पर भी जो अपने स्वरूप आत्मा का नाश नहीं**

देखता है, वही वास्तव में सत्य रूप से आत्मा को पहचानने वाला है और वही मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यह आत्मा गुण रहित और अविनाशी है । जल में कमल पत्र जैसे अलिप्त है, वैसे ही यह आत्मा इस शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक् है, इस प्रकार जो जीव ज्ञान दृष्टि से शरीर से अपने को असंग जानते हैं, वे मुक्त होकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं । '**अयमात्मा ब्रह्म**' आत्मा ही ब्रह्म है । इस शरीर में अहं, मैं रूप से जो प्रत्येक मनुष्य द्वारा जाना जाता है, जो अनुभव एवं ज्ञान स्वरूप है अर्थात् शरीर में स्मृति ज्ञान को प्रकाशित करता है, वही 'मैं' ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ ।

सर्वस्य चाहं हृदिसंनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

–गीता : १५/१५

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थित: ।

–गीता : १०/२०

'मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ ।'

इस प्रकार यह चैतन्य पुरुष ही प्रत्येक के शरीर में स्थित हुआ प्राण, इन्द्रिय एवं अन्त:करण के द्वारा बोलता, चलता, फिरता, सुनता, स्मरण करता, ज्ञान रूप ब्रह्म है । जो 'मैं' रूप में सदैव जाना जाता है, बताया जाता है, **वह मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ,** इसी बात को वेद '**तत्त्वमसि**' महावाक्य एवं रामायण में निम्न चौपाई द्वारा सिद्ध किया है ।

'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा' अर्थात् 'अहंब्रह्मास्मि'

'सो' याने परमात्मा 'हम्' जीवात्मा

'अस्मि' याने हूँ अर्थात् वाह परमात्मा मैं हूँ, सोऽहम्'

जिसे गीता अध्यास २ श्लोक ७२ में ब्राह्मी स्थिति कहते हैं । इस वृत्ति को निरन्तर श्वांस–प्रश्वांस रूपी माला द्वारा निश्चय करना ही ब्राह्मी

स्थिति को प्राप्त होना है, किन्तु इस आत्म निष्ठा की प्राप्ति हेतु किसी सद्गुरु की शरण लेना परमावश्यक है । यदि यह आवश्यक न होता तो भगवान कृष्ण अर्जुन को यह न कहते कि :-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ।।

– गीता : ४/३४

तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुष से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो, तब वे तत्त्वज्ञ पुरुष उस गुढ़ आत्म ज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसे जानकर फिर तुझे बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त नहीं होना पड़ेगा । जो इस आत्म ब्रह्म (हरि) को जानने का प्रयत्न न कर अन्य साधना में लगे रहते हैं वे मिथ्या ही परिश्रम करते हैं ।

नेम, धर्म, आचार, ब्रत, योग, यज्ञ, जप, दान ।
भेषज पुनि कोटिन नहीं, रोग न जाई हरिजान ।।

अत: किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण कर अपने को देह से पृथक् अजन्मा, अविनाशी, परब्रह्म स्वरूप जानकर नित्य सिद्ध सहज मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । इस आत्म निष्ठा को दृढ़ करने के लिये गीता अध्याय २ श्लोक ११-३० तक का प्रतिदिन मनन पूर्वक अध्ययन करना चाहिऐ तथा 'विचार चन्द्रोदय', 'विचार सागर' नामक ग्रन्थ का भी अवलोक करना श्रेष्ठ है ।

'अभेद दर्शनं ज्ञानम्'

जीव ब्रह्म की एकता का अभेद ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र साधन है ।

'मैं हरि चरणदास हूँ' यह देहात्म बुद्धि है, क्योंकि मैं तो आत्मा का वाचक है एव 'हरिचरणदास' यह नश्वर शरीर का वाचक है । शरीर एवं

आत्मा का पृथक ज्ञान न होने के कारण ही जीव को देहाध्यास अर्थात् देह में आत्मा की बुद्धि दृढ हो जाती है । इसी से मैं सच्चिदानन्द, अजन्मा, अविनाशी, आत्मा हूँ, ऐसा भाव दृढ नहीं हो पाता है । अज्ञानता के कारण ही 'मैं' अमुक नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, पदादि वाला या वाली हूँ, ऐसा सभी को मिथ्या ज्ञान बना रहता है । यह नाम रूप तो इस शरीर के आज हैं, किन्तु मैं तो इस शरीर के पहले एवं मरने पर भी रहूँगा । अर्थात् मैं अजन्मा, अविनाशी, पुरातन, शाश्वत् आत्मा हूँ । यह स्वरूप ज्ञान देहभाव के पर्दे द्वारा ढक जाने के कारण जीव इस नश्वर, दृश्य, विकारी जन्म-मृत्यु वाले देह को मैं जानता है । फिर काम, क्रोध, लोभ,मोह तथा कर्ता-भोक्ता आदि वृत्ति के अभिमान युक्त हो सूक्ष्म शरीर को भी 'मैं' मान लेते हैं । जबकि मैं स्थूल,सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीर से पृथक् इसका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ । यह शरीर जो कि न पूर्व में था, न आगे रहेगा, केवल वर्तमान में ही प्रतीत होने वाला है । अत: मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि मैं शरीर में स्थित चैतन्य ज्ञान स्वरूप मैं सच्चिदानन्द, परब्रह्म परमेश्वर हूँ ।

अत: मैं को हरिचरणदास शरीर न मानकर स्वयं को हरि अर्थात् आत्मा ही जानना चाहिये । मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ । सोऽहम् ऐसा अभेद ज्ञान तो सद्गुरु कृपा से ही हो सकेगा ।

हे आत्मन् ! सभी जीवों को अपने तीन जन्मों का अनुमानिक ज्ञान निश्चय रहता है, कि जो मैं पूर्व में कर्म कर आया हूँ वह तो आज मुझे भोगने पड़ रहे हैं, एवं अब जो कर रहा हूँ वह आगे फिर भोगने पडेंगे । इस लोक कथन से मेरा अजन्मा, अविनाशी होना स्वत: सिद्ध हो जाता है । क्योंकि यह शरीर का जन्म-मरण अनादि से चला आरहा है और मैं तो सनातन,नित्य, शाश्वत, अखण्ड, अमृत, शास्त्रों द्वारा बतायागया है । ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

– गीता : ४/५

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो । – गीता : २/२०

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

– गीता : १५/७

ईश्वर अंश जीव अविनाशी । – रामायण

अमृतस्य पुत्राः । – वेद

हे अर्जुन ! तेरे मेरे याने सभी प्राणी मात्र के अनन्त जन्म हो चुके हैं, क्योंकि यह सृष्टि चक्र अनादि से चला आ रहा है । अतः समस्त जीवात्माओं के शरीर तो नश्वर हैं, किन्तु उसमें स्थित मैं आत्मा अद्वितीय, नित्य, शाश्वत् पुरातन है । इस सिद्धान्तानुसार मैं अनादि एवं अनन्त हूँ किन्तु मेरे रहने का यह मन्दिर (शरीर) आदि–अन्त अर्थात् जन्म–मृत्यु वाला है । मैं इसका जानने वाला इससे पृथक् द्रष्टा, साक्षी, निर्विकार आत्मा हूँ । सिद्धान्त है कि द्रष्टा दृश्य से एवं ज्ञाता ज्ञेय से सदा पृथक् रहते हैं । मैं इस शरीर को जानता हूँ, इसलिऐ यह शरीर दृश्य है एवं मैं इसका जानने वाला द्रष्टा, साक्षी, चैतन्य ब्रह्म आत्मा इससे पृथक हूँ । अस्तु ! इस शरीर से पृथक् इसको जानने वाला सत, चित्, आनंद स्वरूप अविनाशी–अविकारी, अकर्ता–अभोक्ता मैं आत्मा हूँ । यह शरीर विकारी, विनाशी, कर्ता–भोक्ता, धर्म वाला है । इस प्रकार का दृढ आत्मज्ञान किसी सद्गुरु की शरण ग्रहण कर प्राप्त करना चाहिये । इस ज्ञान के अलावा मुक्ति हेतु अन्य कोई मार्ग या साधन नहीं हैं ।

आत्म ज्ञान से ही मुक्ति

आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्तिर्न सिद्ध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।

– विवेक चूडामणी

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ।

– ३/८ श्वेताश्वतर उप

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' **''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'',**

'ज्ञात्वां देव मुच्यते सर्व पाशै' इस प्रकार की घोषणा अनेक श्रुतिओं में भी की गई है कि **''ज्ञान से ही मोक्ष होता है''** इस आत्मा को जाने बिना मृत्यु से पार कराकर मोक्ष को दिलाने में कोई भी साधन समर्थ नहीं है । **'ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना'** ।

अतएव आत्म ज्ञान बिना केवल पूजा, पाठ, जप, तपादि करोड़ों जड़ कर्मों द्वारा मोक्ष नहीं हो सकता है । क्योंकि कर्म, उपासना, यह साधन केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिये है किन्तु तत्त्वज्ञान कराने में समर्थ नहीं है । आत्मा की प्राप्ति तो ब्रह्मात्म एकत्व चिन्तन से ही हो सकेगी । इसी बात को शंकराचार्यजी कहते हैं –

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ।।

– विवेक चूडामणी–११

जैसे हलवा बनाने हेतु आटा, घी तथा चीनी की आवश्यकता समान है, किन्तु बिना पानी, अग्नि के हलवा सिद्ध नहीं हो सकता । उसी प्रकार बिना ज्ञान के मोक्ष भी दुर्लभ है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। – गीता : ४/३४

हे आत्मन् ! तू अपने स्वरूप को जान, ताकि मोक्ष सम्भव हो सके । अन्यथा करोड़ों उपाय कर ले किन्तु तेरा अनादिकालीन बन्धन तेरे मनमाने साधन करने से न आज तक दूर हुआ है, न आगे ही दूर हो सकेगा । उस ज्ञान हेतु किसी जीवित श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ही जाना होगा । उनकी सेवा कर प्रसन्नता प्राप्त कर जिज्ञासु भाव द्वारा उनसे प्रश्न कर अपने जन्म-मरण के दु:ख के कारण रूप अज्ञान की निवृत्ति हेतु उपदेश ग्रहण करना होगा । तब तू भवबन्धन से मुक्त हो सकेगा । जो सद्गुरु आत्मा उपदेश करते हैं उनके वचनों में दृढ श्रद्धा, विश्वास रखने से ही जन्म-मरण का दु:ख दूर हो सकता है ।

हे आत्मन् ! अगर किसी अद्वैत वादी गुरु की शरण ग्रहण कर ली तो फिर उसके द्वारा जीव के जन्म-मरण की जंजीर और दृढ ही होगी, उसके द्वारा भव बन्धन से छूट नहीं सकेगा । क्योंकि उसके पास जन्म-मरण से छुड़ाने हेतु कोई प्रत्यक्ष सदुपदेश तो होता नहीं । वह केवल बाह्य नाम, रूप की स्थूल साधना का ही उपदेश करना जानता है जो सब प्रपंच माया मात्र है ।

कन फुंका गुरु हद का, बेहद का गुरु और
बेहद का गूरु जब मिले, लगे ठिकाना ठोर ।।

हे आत्मन् ! त्रिगुणात्मिक नाम, रूप की साधना जीव को गुणातीत कैसे कर सकेगी ? अत: समस्त नाम, रूप की साधना जीव का समूल दु:ख दूर तो नहीं कर सकेगी बल्कि वह संसार के असहनीय दु:खों को ही भोगता रहेगा । जब कभी पूर्व जन्म के पुण्यों का पुन्ज उदय होगा तब ईश्वर कृपा से कोई सत्य मार्ग पर चलाने वाला ज्ञानवान, अद्वैतवादी, ब्रह्मवादी गुरु मिलेगा तब वह सत्य मार्ग पर चलने का आदेश करेगा कि-

अरे भैया ! ये भेदवादी गुरु जो केवल तन, मन, धन, मात्र हरण करने वाले हैं उनकी सेवा, शरणागति से तू शोक–मोह एवं जन्म–मरण रूपी दु:खों के सागर से पार होकर परमानन्द की प्राप्ति त्रिकाल में भी नहीं हो सकेगा । क्यांकि–

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

– गीता २/४५

बन्धे को बन्धा मिले, छूटे कौन उपाय ।
कर सेवा निरबन्ध की, पल में लेत छुडाय ।।

स्वयं जिसने उस परमात्मा को प्राप्त नहीं किया है वह दंभी, लोभी गुरु मनकल्पित साधन बता भले जीवों को अपने शिष्य बना अज्ञान अन्धकार रूपी पथ में भ्रमित कराते रहते हैं । ऐसे भेदवादी, द्वैतवादी गुरुओं को ज्ञान रूपी सूर्यादय का होता द:ख रूप होना है, क्योंकि ज्ञानरूपी सुर्योदय होते ही उनके शिष्य फिर उनके वश में नहीं हो सकेंगे । अत: वे अपने शिष्यों को सदैव सत्य पथ, आत्म ज्ञान से वंचित् रख द्वैत उपासना में लगाये रहते हैं । अस्तु ! सच्चे मुमुक्षु, ऐसे झूठे गुरु को त्याग कर किसी क्षोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ, वैराग्यवान् तथा परम दयालु गुरु की शरण में जाने में भय न करे ।

झूठे गुरु अजगर बने, लख चौरासी जाय ।
शिष्यगण चीटीं बने, नोंच नोंच के खाय ।।
गुरु मिला तब जानिये मिटे मोह तन ताप ।
हर्ष शोक व्यापे नहीं तब गुरु पुरे आप ।। – कबीर

अत: हे आत्मन् ! ऐसे सच्चे गुरु की शरण में जाकर निष्कपट तथा श्रद्धा विश्वास पूर्वक मन, वचन, कर्म से उनकी सेवा करनी चाहिये ।

जिससे वह प्रसन्न होकर तेरे जन्म–मरण के दु:ख दूर करने का उपाय तुझे बतावेंगे ।

सभी जीवों को एक समान दुःख यही है कि वह संसार में दैहिक, दैविक, भौतिक अथवा अध्यात्म, अधिदेव तथा अधिभूत् इन तीनों सन्ताप से जल रहे हैं । जैसे कोई पथिक ग्रीष्म कालीन मध्यान्ह काल के सूर्य के तीव्र ताप में नंगे पैर कांटे के मर्ग पर चल रहा हो । अत: समस्त पाप कर्म एवं भेदभक्ति का त्याग कर शम, दमादि साधनों से युक्त होकर सद्गुरु की शरण ग्रहण करना चाहिये ।

हे आत्मन् ! जो यह स्थूल देह देख रहा है, यह तू नहीं है, यह तो दृश्य है, तू तो इसका द्रष्टा है । प्राण क्रिया रुक जाने पर लोग इस को जला या गाड़ देते हैं जो शेष में राख, मिट्टी बन जाताहै । यह देह न पहले था न आगे रहेगा केवल मध्य में ही स्वप्नवत् है ! तू इसका साक्षी आत्मा पूर्ण चैतन्य, व्यापक आकाश की तरफ समस्त देह में स्थित है । तुझ अखण्ड, व्यापक आत्मा में आना–जाना सम्भव नहीं है तथा कर्म के फल का भोक्ता भी तो नहीं है । क्योंकि यह वेद का सिद्धान्त है कि जो कर्म का कर्ता है वही सुख–दु:ख रूपी फलों का भोगता भी है । लेकिन तू कर्मों का कर्ता नहीं है, इसलिये तू कर्मों के फलों का भोक्ता भी नहीं है । अब बाकी रहा चिदाभास रूप जीव जो पाप–पुण्य रूप कर्म के सम्बन्ध से ऊँच–नीच योनियों में भ्रमण करता हुआ जन्म–मरण का दु:ख भोगा करता है ।

आकर लक्ष्य चार चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जीव अविनासी ।। – रामायण

हे आत्मन् ! इस सूक्ष्म शरीर में पड़े चिदाभास रूप जीव भाव का भी अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा के अभेद ज्ञान द्वारा नाश हो जाता है । जिससे समस्त संचित् तथा क्रियमाण (आगामी कर्म) ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होकर निर्बीज हो जाते हैं तथा प्रारब्ध पूरा होते ही यह स्थूल देह भी गिरकर

हमेशा के लिये समाप्त हो जाता है । इस प्रकार ज्ञानोदय पश्चात् कर्म का कर्ता–भोक्ता कोई नहीं रह जाता है । यह कर्ता–भोक्ता जीव आत्म ज्ञानोदय से पूर्व ही विम्बरूप आत्मा से भिन्न प्रतिविम्ब रूप जीव की प्रतीति रहति है । जीव को अपने वास्तविक द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप का बोध हो जाने के बाद में तो एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवा कुछ शेष नहीं रहता । जब सभी कर्म जलकर भस्म हो जावेंगे तब कर्म का कर्ता भोक्ता ही कोई नहीं रहेगा तब फिर जन्म–मरण किसका होगा ? इसलिये देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, में पड़ने वाले प्रतिविम्ब से अहं बुद्धि को त्याग कर तथा समस्त देह संघात् विम्बरूप प्रकाशक सच्चिदानन्द नित्य, शुद्ध, मुक्त, अकर्ता–अभोक्ता का, मैं आत्मा हूँ ऐसा ज्ञान सम्पादन करना चाहिये । क्योंकि इसी निश्चय ज्ञान से मोक्ष होता है । इस जीव ब्रह्म की एकता रूपी ज्ञान के सिवा जन्म–मरण रूप बन्धन को दूर करने की किसी में सामर्थ्य नहीं है ।

हे आत्मन ! तू यह चिन्ता न कर कि अनादिकाल के देहाध्यास से संचित् कर्मों को दूर करने में भी उतना ही समय तथा श्रम लगेगा । नहीं ऐसा नहीं है । ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर समस्त अज्ञानजन्य कर्म सूखे तृण की तरह जलकर तत्क्षण भस्म हो जावेंगे । जैसे सूर्योदय होते ही समस्त अन्धकार विलीन हो जाता हैं, उसी प्रकार ज्ञानोदय होते ही अज्ञान एवं अज्ञान जनित समस्त कर्म जलकर तत्काल भस्म हो जावेंगे । समय एवं पुरुषार्थ तो केवल ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होने तक ही है बाद में नहीं ।

जैसे किसी गुफा में अनादि काल का अन्धकार है उसमें कभी प्रकाश पहुंचा नहीं वहां के अन्धकार को विलीन करने हेतु नाना प्रकार के जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ रूप साधन करने या ढोल, घंटा, बजाने लकड़ी से मारे तो क्या वह अन्धकार जा सकेगा ? कदापि नहीं । किन्तु छोटासा दीपक या मशाल जला दें, तो उस गुफा का अनादि काल का अन्धकार तत्क्षण नष्ट हो जायगा । फिर वह अन्धकार यह नहीं कहता कि मैं बहुत

पुराना हूँ अभी नहीं जाऊँगा, धीरे-धीरे यह स्थान खाली करूँगा । प्रकाश के अभाव का नाम ही तो अन्धकार है । जब उस अन्धकार का विरोधी प्रकाश प्रगट हो गया है, तब फिर वहाँ अन्धकार कहां रह सकता है ? जैसे सूर्योदय के बाद रात्री का घोर अंधकार नहीं रहता । उसी प्रकार अनादिकाल का अज्ञान तथा उससे उत्पन्न देहाध्यास सद्गुरु के द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य श्रवण द्वारा बुद्धि से दूर हो जाता है । तब बुद्धि में उसी क्षण 'अहं ब्रह्मास्मि' स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान उदय होजाता है । जिसके फल स्वरूप वह अनादि कालीन देहाध्यास की भी निवृत्ति हो जाती है । इसमें वेद के वचन प्रणाम है -

''ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशै:

''ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'' ।

आत्मा को जानकर समस्त बन्धन निवृत्त हो जाते हैं तथा ब्रह्म को जानने वाला परम पद को प्राप्त होता है ।

''तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।''

उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु को जीता जा सकता है, मोक्ष के लिये आत्मज्ञान के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

उसी ज्ञान से सर्व पापादिक कर्मों का नाश हो जाता है भगवान श्रीकृष्ण प्रिय सखा अर्जुन को यही उपदेश करते हैं ।

यथेधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् करुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्व कर्माणि भस्मसात् करुते तथा ।।

गीता - ४/३७

हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि काष्ठों को जलाकर भस्म रूप कर देती है, उसी प्रकार द्रष्टा, साक्षी, आत्म भाव के निरन्तर अभ्यास

से प्रज्वलित प्रबल यह ज्ञानाग्नि भी जीव के अनादि समस्त संचित पुण्य पाप और मिश्रित भोगराशि को भस्म कर देती है ।

हे आत्मन् ! आत्म स्वरूप का बोध हो जाने के साथ ही निश्चित ही देहभाव, कर्ता-भोक्ता जीव भाव तथा बन्धभाव नष्ट हो जाता है । किन्तु जिन कर्मों के भोगार्थ यह शरीर तैयार हुआ है उन कर्म भोग के पूर्ण होने तक इस देह की स्थिति बनी रहती है । जैसे साइकल चलाने वाला व्यक्ति पेडेल रोक देने पर भी कुछ दूर तक बिना चलाये चलती रहती है, पिछला वेग समाप्त हो जाने पर वह स्वतः रूक जाती है । अथवा ऊपर की तरफ पत्थर या अन्य वस्तु फेंकने पर वह कुछ ऊंचाई तक जाकर स्वतः नीचे की ओर आ जाती है । इसी प्रकार यह देह पूर्व प्रारब्ध भोगकर स्वतः पके फल की तरह गिरजाता है ।

यस्यनाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्यन लिप्यते ।
हत्वानि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

गीता - १८/१७

हे आत्मन् ! जब जक देह रहेगा तब तक कर्म भी होते रहेंगे किन्तु वे समस्त कर्म अब निर्बिज होते चले जावेगें । जैसे बीज को अग्नि में भूनकर खेत में डाल पानी व खाद देने पर भी वह पुनः अंकुरित नहीं होता है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी के कर्म देह पर्यन्त होते रहने पर भी वे ज्ञानी को पुनर्जन्म का हेतु नहीं हो पाते हैं क्योंकि ज्ञानी का मन में मैं कर्ता तथा फलभोक्ता हूँ इस प्रकार का अहंकार समाप्त हो जाता है इसलिये उसे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं करते हैं । पुण्य-पाप के बिना ज्ञानी को पुर्नजन्म प्राप्त होने का कोई कारण शेष नहीं रहता है ।

जीव ब्रह्म है

जीवो ब्रह्मैव न पर: । – शंकराचार्य

जीव जब ते हरि ते निलगान्यों,
तबते गेह देह निज जान्यो ।
माया बस स्वरूप बिसरायो,
तेही भ्रम ते दारूण दु:ख पायो ।।

अज्ञानवश अनादि काल से जीव, अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप को भूल अपने को जन्म–मरण, कर्ता–भोक्ता, पापी–पुण्यात्मा, दु:खी–सुखी, बद्ध–मुक्त धर्म वाला जान रहा है । यह जीव देह, नाम, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम में अहंता–ममता कर बारम्बार संसार चक्र में भ्रमित होता हुआ दु:खों को भोग रहा है । परन्तु वेद उपनिषद्, पुराण, गीता, रामायण तथा तत्त्वदर्शी महात्मा इसे बारम्बार **'तत्त्वमसि'** **''वह सच्चिदानन्द ब्रह्म तू है''** ही बतलाते हैं ।

'अयं आत्मा ब्रह्म' – अथर्ववेद माडुक्य उप.२

ईश्वर अंश जीव अविनाशी,
चेतन अमल सहज सुख राशी ।
सो माया वश भयउं गोसाई,
बन्धयो कीर मरकट की नाई ।।
आकर चार लक्ष्य चौरासी,
जोनि भ्रमत यह जीव अविनासी ।।

प्राय: जगत् में भी देखा जाता है कि राजा का बेटा अपने को राजा, सेठ का बेटा अपने को सेठ, धोबी, चमार, भंगी का बेटा अपने को धोबी, चमार, भंगी एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का बेटा अपने को सहज ही संशय रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य मान लेता है । किन्तु इधर महान आश्यर्य है कि यह अमृत की संतान, सच्चिदानन्द ब्रह्म की सन्तान, ईश्वरांश जीव अपने को सच्चिदानन्द, शिवोऽहम्, सोऽहम् ब्रह्म मानने में भय करता है । मुक्त बिहारी बन्दर तथा तोता जैसे अज्ञानवश बन्धन को प्राप्त होकर कष्ट को प्राप्त होता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप जीव अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को न जानने के कारण चौरासी लाख योनियों के बन्धन को प्राप्त होता है ।

जैसे किसी ब्राह्मण पुरुष ने भंगेड़ियों के साथ बैठ भांग के नशे में अपनी ब्राह्मण जाति भुलाकर अपने को शुद्र जाति वाला मान लिया हो तब उसके इस शुद्रत्व अध्यास (भ्रम) की निवृत्ति करने हेतु किसी शुद्धि संस्कार की आवश्यकता नहीं है । बल्कि उसके मन, बुद्धि पर चढ़े हुए भांग के नशे उतारने वाली विधि की ही आवश्यकता है । जैसे ही घृत पान से उसका नशा उतर जावेगा वह अपने को पूर्ववत ज्यों का त्यों ब्राह्मण जाति वाला बिना अन्य साधन किये ही मानने लगेगा । पूर्व सिद्ध ब्राह्मण को ब्राह्मण बनाने हेतु किसी साधन की आवश्यकता नहीं है ।

'नष्टो मोह: स्मृतिलब्धा' – गीता : १८/७३

उक्त ब्राह्मण के समान ही यह जीव भी अज्ञान रूप मद के कारण अपने को देह, नाम, जाति, आश्रम वाला मानकर मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, ब्राह्मणादि जाति वाला, ब्रह्मचर्यादि आश्रम वाला, उड़िाया, बंगाली, पंजाबी, बिहारी, मारवाड़ी, गुजराती, तेलगु आदि प्रान्तिय वाला मानने लगता है, इस प्रकार यह जीव दृश्य प्रकृति के धर्मों को अपना मानने के कारण बन्धन को पाप्त होता है ।

वास्तव में तो यह आत्मा ब्रह्म ही है । देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का द्रष्टा, साक्षी स्वयं होते हुए भी अज्ञानवश अपने को दृश्य देहादि संघात रूप जानता है । जब इस जीव का किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश द्वारा अज्ञान-भ्रम निवृत्त होगा तभी यह अपने नाम, रूप, जाति, आश्रम, कर्ता-भोक्ता, बद्ध-मुक्त आदि मिथ्या अध्यास को छोड़ कर **"मैं, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द आत्म ब्रह्म हूँ"** ऐसा जानने लगेगा । जैसे कुन्ती पुत्र कर्ण को जन्म से ही शुद्रत्व का अध्यास हो जाने पर, जब कुन्ती द्वारा यह बोध प्राप्त हुआ कि तू सुद पुत्र नहीं राज पुत्र है तभी उसका शुद्रत्व अध्यास छूट गया और मैं कुन्ती पुत्र हूँ ऐसा उसे दृढ़ बोध हो गया ।

तात्पर्य यह है कि जैसे उत्पन्न अन्धकार प्रकाश द्वारा ही दूर होता है उसी प्रकार अज्ञानकृत बन्धन भ्रम की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है ।

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

कर्म से उत्पन्न घट पटादि वस्तु की निवृत्ति जैसे कर्म द्वारा हो सकती है केवल ज्ञान द्वारा नहीं । इसी प्रकार जीव का बन्धन अज्ञान कृत होने से वह केवल ज्ञान से ही मुक्त हो सकेगा, किसी कर्म साधन द्वारा नहीं । अतः जिज्ञासुओं को कर्म, उपासनादि बाह्य साधन का उपयोग केवल चित्त शुद्धि के लिये ही कर्तव्य रूप जानना चाहिये । पश्चात् स्वरूप अज्ञान की निवृत्ति हेतु आत्म ज्ञान का ही आदर करना चाहिये कर्मों का नहीं । इसी बात को जगद्गुरु शंकराचार्य जी कहते हैं -

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपोलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्म कोटिभिः ।।

- विवेक चूड़ामणि : ११

पंची करण

हे आत्मन् ! जब जीव के अनादि संचित् कर्मों में से जो कर्म बीज फल देने को प्रस्तुत हो जाता है, तब उसे भोगने हेतु इस स्थूल शरीर की रचना होती है । इस कार्य को करने हेतु ईश्वर माया को आदेश देते हैं कि इस जीव के कर्म फल भोगार्थ उचित देह का निर्माण करो । माया ईश्वर आदेश पाकर सूक्ष्म आकाश, वायू, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंच भूतों का पंचीकरण करती है । जिसके द्वारा जीव के भोगने एवं उसके कल्याणार्थ नूतन कर्म करने हेतु सुविधा उपलब्ध हो सके । इसके लिये माया ने पंच सूक्ष्मभूतों का पंचीकरण किया ।

हे आत्मन् ! पंचीकरण पद्धती को समझाना बहुत ही कठिन एवं सूक्ष्म कार्य है । फिर भी तुझे उसका बोध कराने हेतु मैं एक द्रष्टान्त दे रहा हूँ । कोई पांच व्यक्ति बाहर यात्रा पर जा रहे थे । रास्ते में उन्हें भूख लगी तब तभी ने उचित स्थान देख वहाँ घर से लाये भोजन को करने हेतु अपना-अपना टीफिन बाक्स खोले । प्रत्येक व्यक्ति अपने घर से लये हुए भोजन सामग्री की तरफ न देख अन्य साथीयों के द्वारा लाई गई वस्तुओं को देखने एवं खाने में रूचि रख रहा था । तब पांचो मित्रों ने कहा हम परस्पर भोजन सामग्री का पंची करण करले तो आच्छा होगा । मित्रों ने कहा भाई ! यह पंचीकरण प्रक्रिया क्या है ? तब उस समझदार व्यक्ति ने बताया कि अपनी भोजन सामग्री का अर्धभाग अपने लिये रख शेष अर्धभाग को अपने से अन्य चार मित्रों को बराबर वितरण कर दें । इस प्रकार पांचों मित्रों ने परस्पर भोजन सामग्री का आदान प्रदान कर प्रेम से भोजन किया ।

हे आत्मन् ! इस प्रकार इस देव दुर्लभ मुक्ति के द्वार एवं भोग निकेतन रूप मानव जीवन का निर्माण करने हेतु माया ने सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण उपरोक्त पद्धति से किया । प्रथम आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन भूतों ने अपने-अपने को दो भागों में विभाजित कर लिया । फिर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ने अपने अर्धभाग को सुरक्षित रखकर शेष अर्धभाग को चार समान विभाग करलिया । अपने को छोड़कर अन्य चार भूतों को वह अपने अर्धभाग का एक चोथाई भाग दे दिया । इस प्रकार पांच सूक्ष्मभूतों का पंचीकरण हो जाने से यह पंच स्थूल भूतों का २५ तत्त्वोंवाला यह देह मन्दिर का निर्माण हो गया । यह स्थूल मानव जीवन द्वारा ही जीव अपने स्वरूप को जानकर जन्म-मरण के चक्र से सहज मुक्त हो सकता है । इसके अतिरिक्त मुक्ति होने का अन्य कोई द्वार नहीं है ।

स्थूल शरीर

हे आत्मन् ! इस जीव के रहने, भोगने एवं कर्म करने के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण यह तीन शरीर कहे जाते है । अज्ञान कारण शरीर है, कर्ता एवं भोक्ता सूक्ष्म शरीर है एवं जीव के रहने, भोगने, करने के स्थान रूप यह दिखाई पड़ने वाला प्रकट स्थूल शरीर है । जो माया के द्वारा पंचीकरण प्रक्रिया से निर्मित हुआ है ।

हे आत्मन् ! आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी यह पांचों महाभूत स्थूल देह के उपादान कारण है । इन महाभूतों के पृथक्-पृथक् तत्त्वों को स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार दर्शाया जाता है ।

१. आकाश-महाभूत के द्वारा इस शरीर में काम, क्रोध, शोक, मोह तथा भय है यह सब हृदय में ही भाव रूप से उत्पन्न होते हैं एवं इनकी प्रतिक्रिया स्थूल शरीर पर होने से स्थूल शरीर के माने गये हैं ।

२. वायु-महाभूत के द्वारा इस शरीर में प्रसारण, धावन, वलन, चलन तथा आंकुचन (सिकुड़ना) माने गये हैं ।

३. तेज महाभूत के द्वारा इस शरीर में निद्रा, प्यास, भूख, कांति और आलस्य माने गये हैं ।

४. जल महाभूत के द्वारा इस शरीर में लार, स्वेद, मूत्र, रज-वीर्य तथा रक्त माने गये हैं । प्रत्यक्ष में भी सभी जलवत तरल होते हैं ।

५. पृथ्वी महाभूत के द्वारा इस शरीर मैं रोम, त्वचा, नाड़ी, मांस तथा हाड़ माने गये हैं । क्योंकि शरीर नष्ट होकर पृथ्वी में मिलजाता है ।

हे आत्मन् ! उपरोक्त २५ तत्त्वों का साक्षी द्रष्टा आत्मा तू इन सब से भिन्न है । एक-एक भूतों के अपने-अपने पाँच-पाँच तत्त्व हैं । ये तू नहीं है और यह तेरे भी नहीं है । अत: तू इनसे अहंता-ममता बुद्धि का त्याग कर, तभी तुझे तेरे शुद्ध सच्चिदानन्द द्रष्टा, साक्षी, आत्मस्वरूप की निष्ठा प्राप्त होगी ।

किस तत्त्व में कौनसा महाभूत विशेष

१. शोक आकाश में शोक, काम, क्रोध, मोह, शोक, भय यह पांच तत्त्वो हैं ।

✪ शोक आकाश महाभूत का कैसे है ? शोक आकाश का अपना मुख्यतत्त्व है । क्योंकि शोक उत्पन्न होने पर शरीर शून्य के समान हो जाता है और शून्यता आकाश का गुण है ।

➢ काम आकाश महाभूत में वायु का कैसे है ? जब काम मन में उत्पन्न होता है तो मन चंचल हो जाता है, वायु भी चंचल है इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान ने गीता ६/३४ में इस मन को वायु को रोकने की भांति अत्यन्त दुष्कर माना है ।

'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'

➢ **क्रोध आकाश महाभूत में तेज का कैसे है ?** जब क्रोधावेश होता है तो आंखे लाल, श्वांस तीव्र तथा बदन गर्म हो जाता है । तेज भी लाल एवं गर्म है ।

➢ **मोह आकाश महाभूत में जल का कैसे है ?** जैसे ढाल की ओर जल फैलता है इसी प्रकार परिवार में अहंता-ममता होने के कारण सब में मोह फैल जाता है ।

➢ **भय आकाश महाभूत में पृथ्वी का कैसे है ?** जब मन में शत्रु, भूत, डाकू, बलात्कारी, सर्प, सिहांदि से मृत्यु का भय उदय होता है

तो शरीर जड़वत् हो जाता है पृथ्वी भी जड़ है ।

२. **वायु महाभूत में प्रसारण, धावन, वलन, चलन, आकुंचन यह पांच तत्त्व है ।**

✪ **दौडना वायु महाभूत का कैसे है ?** धावन (दौड़ना) मुख्य भाग वायु का ही है । जैसे वायु सब ओर दौड़ती, बहती, चलती है इसी प्रकार शरीर भी दौड़ता, चलता है ।

➢ **प्रसारण वायु महाभूत में आकाश का कैसे है ?** जैसे आकाश सब ओर फैला हुआ है इसी प्रकार शरीर भी सब ओर फैलता, फूलता है ।

➢ **वलन वायु महाभूत में तेज का कैसे है ?** दीपक, ज्योति, आग, लपट, वृक्षादि का विकास ऊपर की ओर होता है उसी प्रकार शरीर का भी उत्थान ऊपर की तरफ होता है । इससे शरीर में वलन क्रिया अपने कारण तेज की है ।

➢ **चलन वायु महाभूत में जल का कैसे है ?** जल नदी रूप में अपने उद्‌गम स्थान की ओर यात्रा करता है । इसी प्रकार जीव आनन्द प्राप्ति हेतु शरीर को सब समय दौड़ाया, चलाया करता है ।

➢ **सिकुड़न वायु महाभूत में पृथ्वी का कैसे है ?** शरीर भी वृद्धावस्था में सिकुड़ जाता है पृथ्वी का कार्य हाड़, मांस, बालादि छोटे हो झुक जाते हैं । पृथ्वी भी सूखने पर सिकुड़ जाती है, फटजाती है ।

३. **तेज महाभूत के निद्रा, तृषा, क्षुधा, कांति तथा आलस्य यह पांच तत्त्व है ।**

✪ **क्षुधा, तेज महाभूत का कैसे है ?** क्षुधा तेज का अपना मुख्य तत्त्व है । मेहनत करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है एवं उसी अनुपात में क्षुधा वृद्धि होती है, उपवास द्वारा मंदाग्नि को प्रदीप्त किया जाता है ।

- **निद्रा तेज महाभूत में आकाश की कैसे है ?** नींद आने से मनुष्य आकाशवत् शून्यावस्था को प्राप्त हो जाता है ।
- **तृषा तेज महाभूत में वायु की कैसे है ?** तृषा वायु की है । प्यास लगने पर कंठ सुखते है एवं वायु पानी को सोखती है ।
- **कान्ति तेज महाभूत में जल की कैसे है ?** कान्ति जल है क्योंकि जलवायु के अन्तर से चेहरे के रंग का अन्तर पड़ता है इसलिये जल की है ।
- **आलस्य तेज महाभूत में पृथ्वी की कैसे है ?** आलस्य पृथ्वी का है, क्योंकि आलसी आदमी पत्थर की तरह जड़ होकर पड़ा रहता है ।

४. जल महाभूत के लार, स्वेद, मुत्र, रज-वीर्य तथा रक्त यह पांच तत्त्व है ।

✪ **वीर्य जल महाभूत का मुख्य अंश कैसे है ?** वीर्य जल का मुख्य तत्त्व है । वृक्षोप्तत्ति का हेतु एवं श्वेत होता है इसी प्रकार वीर्य सन्तानोत्पत्ति का हेतु एवं श्वेत होता है ।

- **लार जल महाभूत में आकाश की कैसे है ?** लार मुखाकाश से निकल ऊपर नीचे होती है एवं असावधानी से टपकती है, आकाश भी शून्य रूप ऊपर-नीचे फैला हुआ है ।
- **स्वेद जल महाभूत में वायु का भाग कैसे है ?** वायु मन्द होने से या दम तोड़ मेहनत का कार्य करने से शरीर में गर्मी बढ़ने से पसीना (स्वेद) उत्पन्न होता है । वायु चलने से पसीना सूख कर शरीर ठण्डा हो जाता है । तपन शांत हो शीतलता आ जाती है ।
- **मूत्र जल महाभूत में तेज का कैसे है ?** जल में मूत्र तेज का है । तेज गर्म है एवं मूत्र भी गर्म होता है ।

- ➢ रक्त जल महाभूत में पृथ्वी का कैसे है ? रक्त पृथ्वी का है । पृथ्वी लाल होती है, रक्त भी जमकर लाल मिट्टी जैसा हो सूख जाता है ।

५. पृथ्वी महाभूत के रोम, त्वचा, नाड़ी, मांस तथा हाड़ यह पांच तत्त्व है ।

- ✪ हाड़ पृथ्वी महाभूत का कैसे है ? हाड़ पृथ्वी महाभूत का मुख्य कठोर तत्त्व है । पृथ्वी जैसे कठोर होती है वैसे ही हाड़ भी कठोर है ।
- ➢ रोम पृथ्वी महाभूत में आकाश का कैसे है ? आकाश जैसे जड़ है, इसी प्रकार रोम भी जड़ है क्योंकि काटने से भी कुछ पता नहीं लगता है ।
- ➢ त्वचा पृथ्वी महाभूत में वायु का कैसे है ? क्योंकि वायु के गुण शीत–उष्ण का त्वचा द्वारा ही अनुभव होता है ।
- ➢ नाड़ी पृथ्वी महाभूत में तेज की कैसे है ? क्योंकि नाड़ी द्वारा ही वैद्य, डाक्टर, शरीर का तापमान जानते हैं ।
- ➢ मांस पृथ्वी महाभूत में जल का कैसे है ? जल की तरह मांस जलिय अंश से गीला रहता है ।

हे आत्मन् ! इस प्रकार पंच महाभूतों के इन पच्चीस तत्त्वों का शास्त्र प्रमाण एवं प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा निश्चय करके इस दृश्य देह संघात के अभिमान से अपने को मुक्त करना चाहिये । पंच महाभूतों के पच्चीस तत्त्वों से बना यह परिणामी विकारी शरीर है । यह नित्य कैसे हो सकता है ? इसको जानने एवं देखने वाला तू ज्ञाता द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, अपरिणामी, निर्विकार असंग, एवं नित्य है । इन पंचभूतों के २५ तत्त्वों का समूह रूप यह स्थूल शरीर तू नहीं है । इन २५ तत्त्वों में से तू एक भी तत्त्व रूप नहीं हैं, और न यह तत्त्व तेरे हैं । हे जीव ! तब तू किसको मैं बताकर अभिमान

करके अपने को स्थूल देह रूप सिद्ध कर सकेगा ? जब यह शरीर प्रारब्ध समाप्ति पर बिखरता है, तब उसके सभी तत्त्व पृथक्-पृथक् होकर अपने-अपने महाभूतों में जा मिलते हैं, इस प्रकार पंच महाभूतों को पृथक्-पृथक् जान लेने पर जीव को मैं रूप से अभिमान करने हेतु देह, नाम की कोई पृथक् वस्तु सिद्ध नहीं होती है ।

जैसे रथ लकड़ियों के जोड़ को, मोटर लोह के जोड़ को, मकान मिट्टी लोह, सिमेंट, लकड़ी के जोड़ को कहते हैं । यदि उपरोक्त रथ, मोटर, मकान से उनका मूल उपादान लकड़ी, लोह, मिट्टी आदि निकाल लिया जावे तो रथ, मोटर, मकान नाम जैसी कोई वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं हो सकेगी । ठीक इसी प्रकार शरीर से यदि पंच महाभूतों को अलग कर लिया जाय तो शरीर देखने जैसी कोई आकृति शेष नहीं रह सकेगी ।

क्षिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित यह अधम शरीरा ।।

रामायण में प्रसंग आता है कि जब बाली के मरने पर तारा पश्चाताप कर रही थी तब भगवान श्रीराम ने उसका मोह दूर करने के लिये कहा था कि जिसे तू अपना पति मानती है वह यह शरीर तो आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंचभूतों का है । जो अत्यन्त निकृष्ट रज-वीर्य धातु से बना अपवित्र मुत्र द्वार से बाहर आया है । जो प्रीति का पात्र नहीं है । तथा जीव तो नित्य है, वह कभी मरता नहीं है और उसे तूने कभी देखा भी नहीं है न तेरा उससे कोई सम्बन्ध है । फिर अब तू किस लिये रोती है ?
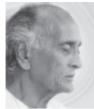
स्थूल शरीर मैं नहीं

प्राय: सभी मनुष्य यह जानते हैं एवं कहते भी हैं कि हम हमारे पूर्व जन्म के किये कर्मों को भोग रहे हैं । जैसा बोकर आये हैं वही तो काट सकेंगे, और अब जो करेंगे वो आगे भोगेंगे ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं ने मे जनाधिपा: ।
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ।।

– गीता २/१२

न तो ऐसा ही है कि मैं भूत काल में नहीं था, न ऐसी ही बात है कि तुम अथवा राजा लोग नहीं थे । न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे । अर्थात् देह तो सबके अनित्य है किन्तु उसमें रहने वाला जीवात्मा नित्य है । शरीर परिच्छिन्न है किन्तु मैं अपरिच्छिन्न हूँ ।

उपरोक्त कथन पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो स्पष्ट पता चलता है कि मैं आत्मा यह शरीर मिलने से पूर्व था, आज हूँ एवं भविष्य में भी रहूँगा । पूर्व में किए कर्मों का आज भोग कर रहा हूँ एवं आज के कर्मों का आगे भोग करूंगा । इस प्रकार कथन से तो तेरी नित्यता ही सिद्ध होती है । हे आत्मन् ! देह नित्य आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि जो देह इस जन्म के पूर्व था, वह तो प्राण क्रिया बन्द होते ही तेरे पूर्व परिवार के लोगों के द्वारा जला दिया गया था । वह तो आज नहीं है । यह वर्तमान देह भी माँ के गर्भ में पुन: नूतन पैदा हुआ है और यह फिर प्रारब्ध पूरा होते ही समाप्त हो जावेगा, मरने के बाद यह नहीं रहेगा । किन्तु तू इस देह में आने से पहले भी था, तथा जिन कर्मों को करके तू इस शरीर में आया है, उनका

सुख–दुःख रूप फल इस जीवन में भोग रहा है । तथा वर्तमान के दान, धर्म, चोरी, हत्यादि नूतन कर्मों के अनुसार इस शरीर के बाद भी सुख–दुःख भोगने हेतु तू रहेगा । इससे यह सिद्ध होता है कि इस दृश्य शरीर से तू कोई भिन्न चैतन्य, साक्षी, द्रष्टा इसका जानने वाला है । इस न्याय से तू यह स्थूल देह नहीं है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

जैसे हम कहते हैं यह मेरा मकान, यह मेरी मोटर, यह मेरी बीबी, यह मेरा पति, यह मेरे बच्चे, किन्तु वैराग्य आने पर इन्हें हम एक क्षण में त्याग कर देते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मैं इन सबसे पृथक् हूँ । उसी प्रकार इस शरीर के अंग को जब मैं कहता हूँ कि यह मेरा हाथ, पैर, नाक, मुंह, आँख, कान है, जैसे विशेष बीमारी या दुर्घटना में अंग का छेदन भी कर दिया जाता है । रोगी स्वयं या जहरीले सर्प द्वारा काट खाने पर कहता है मेरे हाथ को काटदो, मोरे अंग को काटतो किन्तु मेरे प्राणों को बचालो । जैसे मैं मोटर, मकान, बीबी, बच्चे नहीं उनसे पृथक् चैतन्य द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ उसी प्रकार में देह, इन्द्रियादि भी नहीं, बल्कि इनको जानने वाला इनसे पृथक् चैतन्य, द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ । इस प्रकार विचार द्वारा भी यह आत्मा जिसे मे कहता है उनसे मैं शरीर से पृथक् ही सिद्ध होता है ।

जैसे घर में दरवाजा, खिड़की, छत, ईट, पत्थर, लकड़ी, खम्बा, लोहा, मिट्टी, सिमेंटादि से मकान बना होता है व उस पर सफेद, काला, पीला रंग लगा दिया जाता है तथा कच्चे मकान की छत पर घास फूस की छत बना दी जाती हैं । किन्तु उस घर में रहने वाला व्यक्ति घर से पृथक् होता है और वह मैं घर हूँ, खिड़की हूँ, दिवार हूँ, छत हूँ ऐसा कोई नहीं कहता है । उसी प्रकार यह देह रूपी घर है और इसमें हाथ–पैर रूपी खम्बे हैं, मांस, हाड़, ईंट, पत्थर रूपी गारा, माटी है एवं मकान पर जैसे सफेद, काला, पीला रंग होता है, वैसे इसकी चमड़ी है तथा जैसे मकान की छत पर घास हो जाता है वैसे यहाँ सर के बाल है । जैसे घर में झरोखे होते हैं उसी प्रकार यह देह में आँख, कान, मुंह रूपी इन्द्रियाँ खिड़कियाँ है ।

इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना ।
तह बैठे सुर करि करिथाना ।। – रामायण

इस प्रकार देह रूपी घर का द्रष्टा तू आत्मा देह कैसे हो सकता है ? तू इसमें रहने वाला इस देह से भिन्न है । इस प्रकार के विचार द्वारा 'मैं शरीर हूँ' यह मिथ्या अभिमान नष्ट होने से देह के प्रति अहंता-ममता दूर हो सकती है । इस देहाभिमान को नष्ट करने हेतु अन्य कोई साधन नहीं है । जैसे मैं देह नहीं हूँ इसी प्रकार यह देह भी मेरा नहीं है ।

हम लोग प्राय: ऐसा कहते हैं कि मेरा घर, मेरा शरीर किन्तु यह अज्ञानता से कहते हैं । घड़े को मैं अपना कहता हूँ किन्तु वह पृथ्वी का अंश है, इसी तरह शरीर को भी सभी मेरा कहते हैं किन्तु वह तो पंच महाभूतों का पिण्ड है । अत: 'पर' वस्तु को 'स्व' वस्तु मानना एक अपराध है एवं इस अपराध की सजा जीव को ८४ लाख योनियों रूपी कैद है । **'परधर्मो भयावह:'** । अत: हे जीव ! तू विचार कर एवं स्व-स्वरूप का अनुभव करके पंचभूत २५ तत्त्व के कार्य जड़ शरीर को अपना कहने का मिथ्या अहंकार न कर । तेरा यह देहाभिमान ही बन्धन का कारण है । जैसे ईंट, चूना, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी के मकान को मेरा कहना भूल है, इसी तरह हाड़, मांस, चमड़ी, रक्त, रज, वीर्य, वात, पित्त, कफ के शरीर को मेरा शरीर कहना महा अपराध है ।

नहि असत्य सम पातक पुंजा ।
धर्म न दूसर सत्य समाना ।। – रामायण

अगर रास्ते में कहीं हाड़, मांस, चमड़ा, कफ, रक्त, पड़ा हो तो हम उसे अपवित्र मानकर छूते नहीं बल्कि दूर से निकल जाते हैं । फिर उसी गन्दी, अपवित्र वस्तु के पिंड देह को अपना कहना एक सभ्य पुरुष के लिये शोभनीय नहीं होता । इसी अपराध से जीव को ८४ लाख योनियों का कष्ट भोगना पड़ता है ।

आकर चार लक्ष्य चौरासी ।
जोनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।।

– रामायण

देहाभिमान ही जीव को बन्धन में डाले रहता है । संसार में भी अगर किसी दूसरे की वस्तु को अपना कहकर अधिकार बनाना चाहेंगे तो उस वस्तु का स्वामी अनाधिकारी को सरकार द्वारा दंड दिलाकर अपनी वस्तु को पुन: छीन लेगा । अत: पंचभूतों के हाड़, मांस, रक्त, चमड़ी को अपनी सम्पत्ति मानना महान भूल ही नहीं वरन् महान पाप ही होगा ।

'नहि असत्य सम पातक पुंजा ।'

– रामायण

हे आत्मन् ! अगर किसी धर्मशाला को अपनी सम्पत्ति बनाना चाहेंगे तो उसमें रहने के जो दिन मिलते हैं, उस तिथि से पूर्व ही घक्के देकर मैंनेजर अथवा मालिक आपको निकालकर बाहर कर देगा । बस इसी प्रकार यह मानव देह हमें मुक्ति प्राप्त कराने हेतु माया द्वारा उधार मिला है । यदि देव दुर्लभ मुक्ति द्वार रूप मानव जीवन पाकर जीव इस में अपना कल्याण नहीं करता है तो फिर इसे संसार चक्र में बारम्बार भटक कर दुःख भोगना पड़ेगा । मनुष्य योनि प्राप्त हुए बिना जीव अन्य किसी जन्म में न तो मोक्ष प्राप्त करने की शुभ इच्छा उत्पन्न करपाता है न मोक्ष ही सम्पादन कर सकता है । इसी कारण जन्म–मरण के दुःखों से मुक्ति पाने हेतु जीव द्वारा ईश्वर से याचना करने पर यह देव दुर्लभ मुक्ति द्वार रूप उत्तम मानव जीवन कुछ समय के लिये मिल जाता है ।

देव, गंधर्व, आदिक शरीर में भोगासक्ति होने से उन्हें आत्मज्ञान नहीं हो पाता है । पशु–पक्षी आदि योनि में मूढ़ता के कारण उन्हें भी आत्मज्ञान नहीं हो पाता है । अस्तु ! मुक्ति पाने के लिये मोक्ष द्वार रूप मनुष्य शरीर ही समर्थ है । लेकिन देव दुर्लभ, मनुष्य योनि को पाकर यह जीव भी देव एवं

पशु की तरह विषय भोगासक्ति तथा काम, क्रोध, लोभ मोहादि विषयों में फंसकर अपनी आत्मोन्नति नहीं कर पाता है । इस कारण उसे फिर घोर आसुरी योनियों में जन्म-मरण का दुःख भोगना पड़ता है । अतः हे आत्मन् ! तू इस पंच महाभूतों के देह को मैं-मेरा कहकर इसमें अहंता-ममता रूपी अभिमान कर जन्म-मरण का बंधन मजबूत न कर । अपनी विषयासक्ति एवं अहंता-ममता का विवेक द्वारा त्याग कर, तभी तुझे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा ।

विचार करके देख यह शरीर पंचभूतों के मिश्रण से बना है ।

क्षिति, जल, पावक, गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम शरीरा ।।

– रामायण

इस पंच भौतिक शरीर को स्पष्ट रूप से समझाने हेतु पंचीकरण तथा गर्भोपनिषद से वर्णन लिया गया है ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश, इन पंच महाभूतों से इस स्थूल देह की रचना हुई है । जितना इस शरीर में कड़ा भाग है वह पृथ्वी महाभूत का अंश है तथा जितना द्रवीभूत (रस रूप) भाग है, वह सब जल महाभूत का है । जितना गरम भाग है, वह सब तेज महाभूत का है । चलना, उठना, बैठना तथा शरीर में श्वाँस प्रश्वाँस यह सब क्रिया वायु महाभूत की है, तथा इस शरीर में जितना पोलापन है, सब आकाश महाभूत का है । इस प्रकार एक-एक भूत के पुनः पाँच-पाँच कार्य (तत्त्व) होने से पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों द्वारा यह स्थूल देह बना । इसे आप निम्न कोष्टक द्वारा सरलता से जान सकेंगे कि किस तत्त्व का कौनसा मुख्य एवं गौण धर्म है ।

पंचीकरण	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथ्वी
आकाश	शोक	प्रसारण	निद्रा	लार	केश
वायु	काम	धावन	तृषा	स्वेद	त्वचा
तेज	क्रोध	वलन	क्षुधा	मूत्र	नाड़ी
जल	मोह	चलन	कान्ति	रज-वीर्य	मांस
पृथ्वी	भय	आकुंचन	आलस्य	रक्त	हाड़

उपरोक्त २५ तत्त्व अपने मुख्य पंच महाभूतों के हैं, वो मेरे नहीं, मैं उनका नहीं हूँ । अर्थात् जीव को यह निश्चय करना चाहिये कि यह स्थूल देह जिसे मैं अज्ञानवश अपना मानकर अभिमान कर रहा था वह मेरा नहीं है, वह पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों का है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय यह सूक्ष्म शरीर के कार्य है, किन्तु इनका प्रभाव स्थूल देह में ही प्रतीत होता है इसलिए इन्हें स्थूल देह के माने गये हैं । इस प्रकार मैं इन समस्त तत्त्वों का साक्षी द्रष्टा हूँ ।

पंचभूत का कार्य रूप यह शरीर जड़ परिणामी, विकारी एवं असत्य है, किन्तु मैं उनका जानने वाला द्रष्टा निर्विकारी, असंग, आत्मा हूँ । मैं इन तत्त्वों का समुदाय रूप स्थूल देह नहीं हूँ यह देह पंच महाभूतों का है, इसलिए मेरा नहीं है । इस प्रकार अपने को देह से पृथक् जानकर उसमें से अपने मिथ्या आरोपित अहंता-ममता को दूर करना चाहिए । देह अथवा शरीर भी पंच महाभूतों में कल्पित नाम है । जैसे ईंट, चूना, पत्थर का बना घर कहा जाता है, परन्तु प्रत्येक वस्तु को अलग कर दें तो घर कहीं सिद्ध नहीं होता । वैसे ही हाड़-मांस, रक्त, चमड़ी, रज-वीर्य के समुदाय का नाम शरीर है, यदि इन सभी वस्तुओं को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर नाम की वस्तु देखने को नहीं रहेगा । यह भी घर की तरह कल्पित ही है ।

इस प्रकार देह भी सत्य नहीं है केवल कल्पना मात्र है । अत: हे जीव ! इस असत्, जड़, दु:ख रूप ऐसे शरीर में अहंता-ममता का अभिमान करना तेरा अज्ञान ही है । तथा इस देह अज्ञान को आत्म ज्ञान द्वारा हटाने का नाम ही मोक्ष है । अत: इस देह के सब तत्त्वों को जानने वाला तू द्रष्टा आत्मा दृश्य शरीर से भिन्न है, श्री शंकराचार्य भी वाक्यवृत्ति नामक ग्रन्थ में कहते हैं ।

घटदृष्टा घटाभ्दिन्न: सर्वथा न घटो यथा ।
देहदृष्टा तथा देहो नाहमित्यैव धारयेत् ।।

जैसे घट का द्रष्टा (देखने वाला) घट से भिन्न होता है, वह किसी भी प्रकार घट रूप नहीं होता है । उसी प्रकार देह का द्रष्टा जो तू 'आत्मा' है वह कभी देह रूप नहीं हो सकता ।

जैसे अग्नि के सम्बध से लोहे में भी अग्नि सम्बन्धी दाहकता प्रतीती होती है, उसी प्रकार चैतन्य रूप आत्मा के सम्बन्ध से ही देह में चैतन्यता प्रतीत होती है । इस प्रकार देह जड़, नाशवान, परिणामी है, किन्तु हे जीव ! तू चैतन्य, अजर-अमर, अविकारी आत्मा है ।

यह देह छह विकार वाला होने से अनात्मा अर्थात् यह देह 'जायते' जन्मता है 'अस्ति' उत्पन्न होने पर रहता है । 'वर्द्धते' जन्म के बाद बढ़ता है । 'विपरिणमता' युवा अवस्था को प्राप्त होता है 'अपक्षीयते' वृद्ध होता है और उसके बाद 'विनश्यति' अर्थात् मर जाता है । यह छह विकार स्थूल जड़ विकारी देह के हैं किन्तु हे आत्मन् ! तू तो चैतन्य निर्विकारी द्रष्टा साक्षी ब्रह्मात्मा है ।

जैसे घड़े बनाने के बाद घड़े की पोलान अर्थात् आकाश कहीं से आता नहीं तथा घड़े के नष्ट होने के बाद वह आकाश नष्ट नहीं होता है वह ज्यों का त्यों ही रहता है । तथा आकाश में घड़े के उत्पन्न होने एवं नष्ट होने के किसी भी प्रसंग से कोई लाभ अथवा हानि नहीं होती है । क्योंकि

आकाश निरवयव, असंग तथा निर्लेप है । उसी प्रकार देह जन्मता है, उसके बाद रहता है, बढ़ता है फिर युवा वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, किन्तु तू आत्मा इन छहों विकारों से सदैव रहित निर्विकार, निरवयव असंग ही है । गीतामतानुसार भी यह आत्मा, नित्य, विकार रहित हैं ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नायं भूत्वाभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। – गीता २/२०

इस प्रकार गुरु मुख से प्राप्त तत्त्वमसि उपदेश में विश्वास रख कर मैं निर्विकार शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़रूप से निश्चय करना चाहिये । न मैं देह हूँ, न देह मेरा है । यह तो छह विकारों वाला पंच महाभूतों का परिणाम है, और मैं निर्विकार, अपरिणामी आत्मा हूँ ।

हे आत्मन् ! जैसे स्थूल देह तू नहीं है, उसी प्रकार सूक्ष्म देह भी तू नहीं है । वह भी स्थूल देह की तरह तेरा दृश्य है और तू उसका द्रष्टा है । जो द्रष्टा होता है वह कभी भी दृश्य नहीं हो सकता है । सूक्ष्म देह पंच भूतों के अपंचीकृत सत्रह तत्त्वों का है वह तेरा कैसे हो सकता है ? अथवा वह तू कैसे हो सकता है ? जैसे स्थूल देह के भिन्न–भिन्न तत्त्वों को भली प्रकार से तूने जाना है । उसी प्रकार अब सूक्ष्म को भी जानना होगा तभी तेरा कर्ता–भोक्ता भ्रम से लेकर मुक्ति तक का भ्रम दूर हो सकेगा ।

हे आत्मन् ! दृश्य देह की कोई भी स्थिति स्थायी नहीं है । नदी जैसे प्रतिक्षण बहती रहती है उसी प्रकार सभी जीवों के शरीर जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण बदलते जा रहे हैं । सूक्ष्म दृष्टि के अभाव से प्रायः लोग कहते हैं कि यह बच्चा है, यह किशोर है, यह युवा है, यह प्रोढ है, यह वृद्ध है, यह मृत हो रहा है । जैसे 'नदी है' कहना भूल है क्योंकि 'है' नाम

अचल तत्त्व का है । नदी तो बह रही है, उसे 'है' कैसे कह सकेंगे ? इसी प्रकार 'बच्चा है' ऐसा नहीं कहना होगा बल्कि किशोर हो रहा है । किशोर है नहीं बल्कि युवा होने जा रहा है । युवा है नहीं बल्कि प्रोढ होने जा रहा है । प्रोढ है नहीं प्रत्युत वृद्ध होने जा रहा है । वृद्ध भी है नहीं वह मरने जा रहा है । मृत भी है नहीं वह पुनः जन्म लेने जा रहा है । और यह क्रम जन्म-मृत्यु आत्मज्ञान होने के बाद ही समाप्त हो सकेगा । अतः हे जिज्ञासु ! इस समस्त परिवर्तनों का जो एक द्रष्टा, साक्षी, अचल, असंग आत्मा है वह तू है । 'तत्त्वमसि' ।

सूक्ष्म शरीर (लिंगदेह)
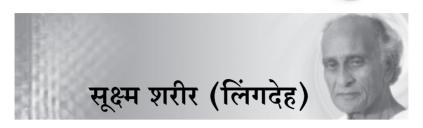
आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन अपंचीकृत पंचभूतों से पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन बुद्धि यह १७ या चित्त, अहंकार इस प्रकार १९ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर माना जाता है । यह सूक्ष्म शरीर ही वासनामय शरीर है, जो बारम्बार जन्म-मरण वाले शरीर को प्राप्त करता हुआ सुख-दु:ख भोगा करता है । आत्मा का तो आवागमन होता नहीं और स्थूल शरीर जलकर यहीं नष्ट हो जाता है, अब केवल वासनामय सूक्ष्म शरीर ही आवागमन अर्थात् एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर में प्रवेश करता है । यह जीव नूतन शरीर में बैठ अपने पूर्व शरीर में किये कर्मों का फल भोगता रहता है एवं पुन: भविष्य में भोगने हेतु आगामी, क्रियमाण, नूतन कर्मों को करता है ।

तत्त्वों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत है । अत: उस मतमतान्तर में पड़कर हमें किसी के मत का खण्डन नहीं करना है । मुख्य उद्देश्य तो यह है कि जिस प्रक्रिया द्वारा हम अपने द्रष्टा आत्म स्वरूप को असंग, अजन्मा, अक्रिय, सच्चिदानन्द स्वरूप समझ सकें एवं इस नश्वर, जड़, दु:ख रूप दृश्य शरीर से पृथक् हम अपने को समझ सके, बस वही मत, वही प्रक्रिया हमारे पक्ष में ग्राह्य है । सभी तत्त्व जड़, विकारी, नाशवान, अनात्मा है । अस्तु ! उनसे निर्मित स्थूल, सूक्ष्म शरीर सत्य कैसे हो सकता है ? वह तो मुझ आत्मा से अलग होने से अनात्मा ही होगा, क्योंकि आत्मा नित्य, अचल, अविकारी असंग है । इसका सम्बन्ध अनित्य, चल, विकारी, संगी, नश्वर देह से कैसे हो सकता है ? अस्तु ! अपरोक्ष रीति से दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि वह आत्मा मैं ही हूँ ।

अन्त:करण चतुष्टय

अन्त:करण :– यह देह में प्रकृति द्वारा किये कर्मों में मिथ्या कर्तृत्व अभिमान कर सुख–दु:खादि का अनुभव करना इसका मुख्य कार्य है एवं कोई भी कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व जो प्रथम स्फुरणा होती है वह अन्त:करण में ही होती है इसके देवता नारायण है ।

मन :– जिस काम का अन्त:करण में स्फुरण हुआ उस काम के लिये संकल्प–विकल्प करना यह मन वृत्ति का कार्य है, जिसके देवता, चन्द्रमा है ।

बुद्धि :– मन में संकल्प–विकल्प रूप कार्य करने या न करने का निश्चय करना बुद्धि वृत्ति का कार्य है । इसके देवता ब्रह्मा है ।

चित्त :– बुद्धि द्वारा निश्चय किये हुए कार्य का चिन्तन करना कि यह काम कैसे करें, जिससे सफलता प्राप्त हो, यह कार्य चित्त वृत्ति का है जिसके देवता विष्णु है ।

अहंकार :– यह काम मैं करूंगा, इस प्रकार का अभिमान करना यह अहं वृत्ति का कार्य है इसका देवता रूद्र शंकर है ।

वैसे अन्त:करण स्वरूपत: तो एक ही यन्त्र रूप है, किन्तु उसमें अलग–अलग वृत्तियाँ उत्पन्न होने से एवं अलग–अलग काम करने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि नाम पड़ गया । उपरोक्त अलग–अलग क्रिया अन्त:करण की है और मैं इनका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा इससे भिन्न हूँ ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

ज्ञानेन्द्रिय

श्रोत्र (कान) – उसके देवता दिशा, कार्य–शब्द सुनना ।

त्वचा – देवता वायु, कार्य–शीत, गर्म, कोमल, सख्त बताना ।

चक्षु – देवता सूर्य, कार्य – नाना प्रकार के रूप देखना ।

जिह्वा – देवता वरुण, कार्य – खारा, खट्टा, मीठा, कडुवादि स्वाद बताना ।

घ्राण (नाक) – देवता अश्वनी कुमार, कार्य – सुगन्ध, दुर्गन्ध बताना ।

उपरोक्त कार्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों के हैं, तू इनको जानने वाला इनसे पृथक् चैतन्य आत्मा है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये ।

कर्मेन्द्रिय

वाचा (वाणी) – देवता अग्नि, कार्य – शब्द बोलना ।

पाणि (हाथ) – देवता इन्द्र, कार्य – समस्त हस्त कृत कर्म, ग्रहण, त्याग ।

पाद (पैर) – देवता उपेन्द्र, कार्य – चलना, दौड़ना

गुदा – देवता यमराज कार्य मल त्याग ।

शिश्न (योनि) – देवता प्रजापति, कार्य – मूत्र त्याग तथा रति (मैथुन, सम्भोग) भोग आनन्द सम्पादन करना ।

उपरोक्त कार्य पंच कर्मेन्द्रियों के हैं, इनको तू जानने वाला है इसलिये तू यह नहीं, तू तो इनका साक्षी है ।

प्राण

प्राण – यह वायु हृदय स्थान में रहती है इसका कार्य दिन–रात्रि में २१.६०० स्वासोच्छवास रूपी कार्य है तथा निश्चित समय पर भुख–प्यास को उत्पन्न करता है ।

उदान – यह वायु कण्ठ स्थान में रहती है इसका कार्य प्राणी द्वारा खाये अन्न, जल को अलग–अलग कर यथा स्थान में पहुँचाना है । तथा

कण्ठ में 'हिता' नामक अति सूक्ष्म नाड़ी रहती है, उसमें स्वप्न, हिचकी, डकार का कार्य करता है ।

व्यान – यह वायु शरीर के समस्त स्थान में रह कर देह के सभी अंग प्रत्यंग को उनके जोड़ों से मोड़ने का कार्य करती रहती है ।

समान: – यह वायु नाभी स्थान में रहती है । तथा जो प्राणी द्वारा अन्न, जल तेज ग्रहण किया जाता है, वह जठराग्नि में पक कर उसके स्थूल, सूक्ष्म तथा मध्य इस प्रकार तीन भाग हो जाते हैं ।

अन्न का बहुत सूक्ष्म भाग हृदय पर आकार, मन, बुद्धि को पुष्ट करता है । अन्न का जो मध्यम भाग होता है, उसे समान वायु नाड़ी द्वारा समस्त शरीर में रोम-रोम तक पहुंचाने का कार्य करती है । फिर वह रस से रक्त, मांस, हड्डी, रज-वीर्य, इत्यादि बनते हैं, जिससे समस्त शरीर पुष्ट होता है । तथा अन्न के स्थूल भाग द्वारा मल निर्मित हो जाता है ।

अपान – यह वायु का स्थान गुदा है यह जठराग्नि द्वारा पचाये अन्न के स्थूल भाग को गुदा द्वारा तथा जल के स्थूल भाग मुत्र को लिंग योनि द्वारा बाहर करने का काम नित्य करती है ।

उपरोक्त सामान्य वायु के ही भिन्न-भिन्न कार्य होने से प्राण, अपान, व्यान, समान उदानादि नाम पड़ गये हैं । अत: यह सब वायु के धर्म है, मेरे नहीं, मैं तो सबका साक्षी चैतन्यात्मा हूँ, ऐसा दृढ़ ज्ञान करना चाहिये ।

विषय

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच विषय है यह समस्त संसार पंच विषय रूप ही है । इन पाँच विषयों में जो अज्ञानी मनुष्य आसक्त होता है वह बन्धन को प्राप्त होता है, अतः इनमें आसक्ति का त्याग करना चाहिये । क्योंकि एक-एक विषय में आसक्त हरिण, हाथी, पतंगा, मछली तथा भँवरा मृत्यु को प्राप्त होते देखे जाते हैं । यदि जिसे पांचों इन्द्रियों की

प्रबल आसक्ति हो उस जीव को कितना सावधान होकर चलना होगा यह स्वयं जान ले । यह पांच विषय दृश्य अनात्मा है और तू इनका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा इनसे न्यारा है ऐसा निश्चय करना चाहिये । इस प्रकार अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव की एक त्रिपुटी होकर ही उनका अपना-अपना कार्य होता है ।

अध्यात्म इन्द्रियों को कहते हैं, अधिभूत उनके कार्य को कहते हैं तथा अधिदेव उनके शक्तिरूप देवता को कहते हैं । अगर इनमें से किसी भी एक अंग की कमी होगी तो उसका वह कार्य नहीं हो सकेगा ।

तत्त्ववित्तु महावाहो गुण कर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।

– गीता : ३/२८

सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों का कोष्टक

अपंचीकृत पंचभूतों के सात्विक भाग से पाँच अन्त:करण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई और उन्हीं भूतों के राजस अंश से पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई एवं तामस भाग से पाँच बाह्य विषयों की उत्पत्ति हुई वो निम्न कोष्टक से स्पष्ट है ।

अपंचीकृत पंचभूत	सात्विक भाग द्वारा		राजस भाग द्वारा		तामस भाग
	मिलित	स्वतन्त्र	मिलित	स्वतन्त्र	
	कर्ता-भोक्ता	द्वार	वाहन	सेवक	भोग
आकाश	अन्त:करण	श्रोत्र	व्यान	वाचा	शब्द
वायु	मन	त्वचा	उदान	पाद	स्पर्श
तेज	बुद्धि	चक्षु	समान	पाणि	रूप
जल	चित्त	जिव्हा	प्राण	लिंग	रस
पृथ्वी	अहंकार	घ्राण	अपान	गुदा	गंध

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। – गीता : १४/१७

भूतों के सात्विक अंश से गीतानुसार '**सत्त्वात्संजायते ज्ञानं**' सत्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है । अन्त:करण, मन, बुद्धि आदि से सुख–दु:ख का ज्ञान होता है तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों से पाँच विषय शब्द, स्पर्शादि का ज्ञान होता है ।

रजोगुण क्रिया का अंश है । उसी प्रकार पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियों की मुख्य–मुख्य क्रिया पहले बताये कोष्टक से अभी देख ही लिया है ।

पाँचों विषय में ज्ञान नहीं है, वो जड़ रूप है इसलिए भूतों के तम अंश से उत्पन्न हुए है एवं देह संघात से भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है ।

इस प्रकार इन समस्त २५ तत्त्वों को जानने वाला इनसे पृथक् तू अकर्ता–अभोक्ता इन सब का द्रष्टा, साक्षी, आत्मा है ।

इस प्रकार से जो जिज्ञासु इन तत्त्वों से भिन्न अपने आत्म स्वरूप को जानता है, वही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है । श्रुति भी कहती है :–

''**तरति शोकमात्मवित्**'' ।

आत्मा को जानने वाला शोक रूपी संसार सागर से पार हो जाता है ।

पन्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे भवेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशय: ।।

अर्थात् पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला मनुष्य ब्रह्मचारी, ग्रहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी आदि किसी भी आश्रम में रहने वाला चाहे वह जटाधारी, मुंडन कराने वाला या शिखाधारी ही क्यों न हो वह मुक्त हो ही जाता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

– गीता : १३/२

हे अर्जुन ! सभी शरीर क्षेत्र हैं और उनमें रहने वाला जीवात्मा क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान । इस प्रकार अनित्य देह से पृथक् नित्य आत्मा को मैं रूप से जानना ही वेद मत से ज्ञान कहलाता है एवं इससे पृथक् सभी साधन अज्ञान मात्र है ।

नैव किंचित् करोमीतियुक्तो मन्यते तत्त्ववित् ।।

–गीता : ५/८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। – गीता : १४/१९

यस्य नाहं कृतभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्यापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। – गीता : १८/१७

हे आत्मन् ! सद्गुरु कृपा से जो यह गुण कर्म विभाग को भली प्रकार जान लेता है कि यह सब प्रकृति के द्वारा कार्य होते रहते हैं, मैं किसी कर्म का किंचित भी कर्ता नहीं हूँ न भोक्ता हूँ । सत्त्वगुण का कर्ता–भोक्ता अन्तःकरण की वृत्ति, सत्त्वगुण के ही ज्ञानेन्द्रिय द्वार से निकलकर रजोगुण के प्राणवाहन पर आरुढ़ होकर रजोगुण के ही सेवक कर्मेन्द्रिय द्वारा तमोगुण के विषय जगत् को भोगता है । इस प्रकार तीनों गुणों के कर्त्ता– कर्म–क्रिया, प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय, द्रष्टा–दर्शन–दृश्य, ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञाता रूप त्रिपुटी के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्त्ता–भोक्ता नहीं देखता है । और अपने को असंग, साक्षी, अकर्ता–अभोक्ता रूप, जो जानता है वह संसार बन्धन को प्राप्त नहीं होता है ।

सूक्ष्म शरीर मैं नहीं

हे आत्मन् ! देह इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण की क्रियाओं में अहंता तथा ममता ही दुःख का हेतु है, किन्तु न तू इन्द्रियाँ है, न इन्द्रियाँ तेरी है । इन्द्रियों का स्वभाव अपने धर्मों में तीव्र, पटुता तथा मंदता रहता है और तेरा स्वभाव उनका साक्षी मात्र है । किसी दूसरे व्यक्ति की इन्द्रियाँ चाहे अपने गुण स्वभाव में बर्ते अथवा नहीं, तू उन्हें देख कभी दुःखी-सुखी नहीं होता है । लेकिन जिस देह में यह जीव रहता है उस देह इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में अहंता-ममता होने से व्यक्ति उन इन्द्रियों तथा देहावस्था के लिये सुखी-दुःखी होते रहते हैं । सदा बदलने वाले तीन गुणों का कार्य देह,इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि होने से सदा एक रस नहीं रह सकते हैं । इस बात को जानने वाले तत्त्वदर्शी इनमें अहंता-ममता नहीं करते है और न दुःखी-सुखी ही होते देखे जाते हैं ।

इन्द्रियाँ अनात्मा कैसे ?

इन्द्रियाँ 'अहंता प्रतीति गोचरात्व आत्मवत्'

मैं सूंघता, मैं चखता, मैं देखता, मैं छूता, मैं सुनता यह अहंता प्रतीति का विषय इन्द्रियों में दिखता है किन्तु इन्द्रियाँ ठीक न होने पर यह जीव फिर कभी ऐसा भी कहते पाया जाता है कि मेरी नाक, मेरी जिह्वा, मेरी आँख, मेरी त्वचा । इस प्रकार ये इन्द्रियाँ कभी ममता प्रतीति का भी विषय बन जाती है, इसलिये इन्द्रियाँ अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? इसलिये कि ममता '**प्रतीति गोचरात्व सदनवत्**' ।

घर में ममता होने से ममता करने वाला, घर की वस्तु से पृथक् होता है । यह सिद्धान्त है कि जो-जो पदार्थ मेरा होता है वह दृश्य एवं पृथक् होने से मैं नहीं होता । जैसे-कुत्ता मेरा है कहने वाला व्यक्ति मैं कुत्ता हूँ ऐसा कभी नहीं कहता है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ ममता का विषय होने से आत्मा नहीं है ।

इन्द्रियों की अनात्मता अनुमान से भी सिद्ध होती है । पक्ष, साध्य हेतु तथा द्रष्टान्त इन चार कारणों द्वारा किसी वस्तु की अनुमान से भी सिद्धि हो जाती है । जैसे किसी राह चलने वाले को भोजन बनाने हेतु अग्नि की जरूरत हुई उसने किसी से पूछा की भाई ! मुझे अग्नि कहाँ मिलेगी ! उसने कहा वहाँ सामने पहाड़ के नीचे । प्राप्त कर्ता ने पूछा अरे भाई ! वहाँ अग्नि होगी इसमें क्या सत्यता है ? बताने वाले ने कहा वहाँ धुवाँ जो दिखाई पड़ता है, क्योंकि रसोई घर में जब-जब धुवाँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है । यहाँ अग्नि साध्य, पहाड़ पक्ष, धुवाँ हेतु तथा रसोई घर द्रष्टान्त है और वहां पहुँचने पर उस राहगिर को भोजन बनाने हेतु अग्नि मिल जाती है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अनात्मा सिद्ध होती है । कैसे ?

१. जहाँ वस्तु को सिद्ध किया जावे वह पक्ष ।

२. जिसकी सिद्धि हो वह साध्य ।

३. जिस कारण से साध्य सिद्ध हो वह हेतु ।

४. जिस उदाहरण द्वारा साध्य प्राप्त होने की प्रेरणा मिले विश्वास हो उसे द्रष्टान्त कहते हैं ।

इन्द्रियाँ पक्ष, साध्य अनात्मा, हेतु ममता प्रतीति का विषय द्रष्टान्त घर की तरह ।

अब इन्द्रियों की अनात्मता द्वितीय प्रक्रिया से भी सिद्ध करते हैं ।

(२) इन्द्रियाँ अनात्मा कर्णत्वात् द्रष्टान्त कलमवत् ।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने का साधन मात्र है वे स्वेच्छा से कर्म नहीं करती हैं । यह तो चैतन्य पुरुष की शक्ति पाकर मन की प्रेरणा से तत्-तत् विषय को ग्रहण अथवा त्याग करने को बाध्य है । इन्द्रियों को उनके कार्यों में जोड़ने वाला जीवात्मा उनसे पृथक् है । इन्द्रियाँ जड़ है जबकि जीवात्मा चैतन्य है । जैसे कलम, बन्दूक, चाकु, लाठी आदि उपकरण मात्र है किसी व्यक्ति को लिखने, मारने, काटने तथा पीटने हेतु उपयोग में लिये जाते हैं किन्तु ये उपकरण स्वयं से किसी क्रिया के कर्ता नहीं है ।

आत्मा सत, चित, आनंद तथा अद्वैत स्वभावी है जबकि इन्द्रियाँ असत्, जड़, दु:ख तथा द्वैत स्वभावी होने से अनात्मा है ।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा गुदा अपने-अपने विषयों में पटुता, तीव्रता, मन्दता एवं भाव अभावता दोष युक्त होने के कारण एकरस न होने से असत है, जबकि मैं आत्मा सर्वकाल में एकरस होने से सत है ।

'नाभावो विद्यते सत:'

सभी इन्द्रियाँ अपने प्रकाशक को नहीं जानने से जड़ है किन्तु आत्मा सभी का प्रकाशक चैतन्य है । समस्त इन्द्रियों के भाव तथा अभाव को जानता है ।

'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'

इसलिये आत्मा चैतन्य है ।

इन्द्रियाँ आत्मा को प्रिय नहीं इसलिये दु:ख रूप है किन्तु सबको अपना आप सर्वकाल प्रिय है इसलिये आनन्द रूप है । सबकी सर्वकाल आनन्दता में ही प्रियता होती है किन्तु दु:ख रूपता में किसी की प्रियता नहीं । गहरी निद्रा में कोई इन्द्रिय एवं विषय नहीं है किन्तु वहाँ आत्मा

आनन्दरूप ही रहती है । इन्द्रियों के संयोग से ही उनमें अहंता-ममता होकर दुःखानुभुति होती है । आत्मा सुख-दुःख का प्रकाशक उनसे विलक्षण आनन्द रूप है ।

अनात्म इन्द्रियाँ अनेक है जबकि चैतन्यात्मा अद्वितीय है ।

इन्द्रियाँ भूतों का कार्य होने से मलिन है आत्मा कार्य कारण भावातीत होने से नित्य शुद्ध है ।

जो जिज्ञासु सूक्ष्म शरीर को दृश्य जानकर उसमें से अहंता-ममता का त्याग कर देता है वह तत्काल कर्ता-भोक्ता, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, चंचल-समाधि, बन्ध-मोक्षादि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है । इस ब्रह्मविद्या को मात्र हनुमान चालीसा, रामायण, गीता की तरह पाठ करने या कंठस्थ करने से कल्याण नहीं होगा, बल्कि अपने को सम्यक् प्रकार से सूक्ष्म देह से भिन्न जानने से ही कल्याण होगा । क्योंकि अनात्म पदार्थ स्वसत्ता शून्य होने से परतन्त्र होता है । आत्मा किसी का उपकरण कलम, बन्दुक, चाकु तथा लाठी की तरह नहीं है । आत्मा स्वयं प्रकाश है । वह किसी अन्य द्वारा संचालित नहीं होता, इसलिये वह किसी का करण (साधन) नहीं है ।

इसे इस प्रकार समझे -

इन्द्रियाँ पक्ष, अनात्मा साध्य, कर्णत्वात् हेतु एवं कलमवत् द्रष्टान्त है ।

(३) इन्द्रियाँ अनात्मा है इसे तृतीय प्रक्रिया से सिद्ध करते है ।

'नेह नानास्ति किंचन' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति

- कठोप. २/१/१०

यहाँ नाना कुछ नहीं है । जो अद्वितीय ब्रह्म में नानात्व देखता है, उसे बारम्बार मृत्यु की ही प्राप्ति होती रहेगी ।

'एको देव: सर्व भूतेषु गूढ़:'

इस श्रुति सिद्धान्तानुसार इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आत्मा एक है । इन्द्रियाँ अनेक हैं । आत्मा निर्विकार है । इन्द्रियाँ तीव्र, पटुता तथा मंदता भावाभाव रूप दोष वाली हैं ।

(४) अब इन्द्रियों की अनात्मा चतुर्थ प्रकार से सिद्ध करते हैं ।

पंच सूक्ष्म भूत का 'कार्यत्वात् द्रष्टान्त अंलकारवत्'

जैसे स्वर्ण उपादान कारण का अलंकार कार्य है, इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ भी अपंचीकृत पंच भूतों के सत्व तथा रजोगुण के स्वतंत्र एवं मिलित अंश का कार्य है । आत्मा न किसी का कार्य है न कारण ।

(५) इन्द्रियों की अनात्मता अन्वय तथा व्यतिरेक प्रक्रिया द्वारा भी सिद्ध करते हैं ।

हे आत्मन् ! इन्द्रियाँ तीव्रता, पटुता तथा मंदता धर्म वाली है, यह तू नहीं है, और इनके धर्म भी तेरे नहीं है । तू इन सबका द्रष्टा प्रकाशक, साक्षी आत्मा इनसे प्रथक् है । जैसे कमजोर आँख से मन्द दृष्टिपात होता है, चश्मा लगाने से अनुकूल दिखने लगता है शुद्ध आँख से सामान्य दर्शन होता रहता है एवं आँख बंद होने पर अभाव रूप दिखता है किन्तु तू आत्मा तो इनसे विलक्षण इनके भावा भाव का प्रकाशक है । अतः जब तुझे ऐसा बुद्धि में दृढ़ बोध हो जावेगा तब हि अखंड शान्ति का अनुभव कर सकेगा ।

मन आत्मा नहीं :

मन आत्मा है 'अहंता प्रतीति गोचरात्वात् आत्मवत्'

जैसे आत्मा में अहंता होती है उसी प्रकार दृश्य मन में भी अज्ञानी अहंकार कर लेता है व कहता है कि मैं पड़ा-पड़ा, बैठा-बैठा संकल्प-विकल्प करता रहता हूँ, मैं नहीं सोचता, मैं सुखी, मैं दु:खी, मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं चंचल, मैं शान्त, मैं बद्ध, मैं मुक्त, मैं नरकगामी बनूंगा, मैं स्वर्गवासी बनूंगा इत्यादि कथन मन के धर्म को अज्ञानी अपने मैं में आरोपित कर दु:खी रहता है ।

(१) मन अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ?

'ममता प्रतीति गोचरत्वात् पुत्रवत्'

जैसे मेरा बेटा कहने वाला बेटा नहीं है, बेटे से भिन्न होता है । मेरा जूता कहने वाला जूते से भिन्न होता है । मेरा कुत्ता कहने वाला कुत्ते से भिन्न ही होता है । किन्तु कोई भी मैं बेटा, मैं जूता, मैं कुत्ता ऐसा अपने को नहीं जताता है । मेरा मकान कहने वाला मकान से मैं को पृथक् ही जानता है । मन भी इसी प्रकार ममता का विषय है, कि मेरा मन शांत है, मेरा मन चंचल है, मेरा मन दु:खी है, मेरा मन सुखी है, मेरा मन पापी है, मेरा मन धर्मात्मा है । मेरा मन बाहर चला गया था इसलिये ठीक से नहीं सुन पाया अब मन लौट आया है पुन: कहें तो मैं ठीक से सुन पाऊँगा । अत: जो दृश्य होगा, जो ममता का विषय होगा वह ज्ञेय, जड़ अनात्मा ही होगा वह आत्मा नहीं होगा आत्मा केवल अहंता का विषय है, आत्मा घट, पट वत् ममता का विषय नहीं है । जैसे मन ममता का विषय होने से अनात्मा है उसी प्रकार अन्त:करण की शेष तीन वृत्तियाँ बुद्धि, चित्त तथा अहंकार भी अनात्मा ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे भी मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा अहंकार रूप में ममता का विषय बन जाती हैं ।

मनपक्ष अनात्मा साध्य, ममता हेतु, द्रष्टान्त सदनवत् मेरा घर कहने वाला जैसे घर से पृथक् है इसी प्रकार मेरा मन कहने वाला आत्मा मन से पृथक है ।

(२) **मन अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? विकारत्वात् दधिवत् ।** जैसे दधि दूध का कार्य एवं दूध का विकार है इसी प्रकार मन काम, क्रोध, लोभ मोहादि रूप वाला हो जाता है, बदलने वाला होने से आत्मा निर्विकार कूटस्थ एक रस, असंग, उदासीन, साक्षी ही रहता है । आत्मा विकारी होता तो हर परिवर्तन का अनुभव किसे होता ?

(३) मन अनात्मा ? क्यों अनात्मा ?

'शुद्धाशुद्धत्वात् द्रष्टान्त नीरवत्'

जैसे जल मिट्टी के संग से विकारी, अशुद्ध तथा फिटकड़ी, ब्लीचिंग पावडर, निर्मली के संग से शुद्ध हो जाता है । इसी प्रकार नाम रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम में अहंकार कर तो यह जीवात्मा मलिन हो जाता है । विषय एवं विषयी लोगों के संग से मन मलिन तथा सत्संग से मन शुद्ध हो जाता है ।

आत्मा निर्विकार, एक रस, निरवयव होने से वह किसी भी अशुद्ध क्रिया के द्वारा विकार को प्राप्त नहीं होता है एवं न शुभ कर्मों द्वारा वह शुद्धता को प्राप्त होता है, क्योंकि नित्य, शुद्ध, आत्मा का सहज स्वभाव है । इससे सिद्ध हुआ मनपक्ष, अनात्मा साध्य, शुद्धाशुद्धत्वात् हेतु नीरवत् दृष्टान्त ।

(४) मन अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? पाँच सूक्ष्म भूतों का 'कार्यत्वात् द्रष्टान्त घटवत् ।'

जैसे घट मिट्टी का कार्य है इसी प्रकार मन भूतों के मिलित् सत्व का कार्य होने से विकारी है ।

आत्मा कार्य कारण भाव से रहित असंग एवं अजन्मा है । सावयव पदार्थों का ही आपस में कारण कार्य भाव सम्बन्ध होता है । जैसे मिट्टी कारण से घट कार्य, स्वर्ण कारण से अलंकार कार्य होते हैं इसीलिये घट तथा अलंकार कार्य होने से अनित्य है । क्योंकि जो-जो कार्य होता है वह सदा नाशवान् ही होता है ।

आत्मा निराकार, निरवयव होने से कारण-कार्य भाव से रहित, नित्य होने से अद्वितीय तथा अखंड (व्यापक) होने से कार्य-कारण भाव से भी रहित है । जगत् आत्मा का परिणाम कार्य नहीं है वह तो ब्रह्म का विवर्त है इसलिए आत्मा में कारणता एवं जगत में कार्यता सिद्ध नहीं होती है । अस्तु ! मन अनात्मा है ।

मन पक्ष, अनात्मा साध्य, कार्यत्वात् हेतु एवं घटवत् द्रष्टान्त ।

(५) **मन अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? 'उत्पत्ति परिणामी नाशत्वात् घटवत् ।'**

आत्मा उत्पत्ति परिणामी और नाश से रहित है । इन सब युक्तियों से यह निर्णय हुआ कि दृश्य, उत्पत्ति, नाशवान, परिणामी, कार्य, ममतादि प्रतीति का विषय होने से मन आत्मा नहीं है, और बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इसी अन्त:करण की वृत्ति होने से वे भी आत्मा नहीं हो सकते है ।

जो अनात्मा होता है वह असत्, जड़, दु:ख, द्वैत एवं मलिन रूप होता है ।

आत्मा सत्, चित्, आनन्द, अद्वैत एवं शुद्ध स्वरूप होता है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, असत्, जड़ कैसे ? अन्त:करण चतुष्टय माया, अविद्या का कार्य होने से अशुद्ध है तथा आत्मा अविद्या माया रहित निरन्जन होने से शुद्ध है ।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अपनी वृत्ति संकल्प, निश्चय, चिन्तन तथा अहंकार के पूर्व एवं सुषुप्ति, मुच्र्छा समाधि आदिकाल में भी नहीं होते है । केवल अपने जाग्रत एवं स्वप्न रूप वृत्ति काल में ही रहते हैं । इस प्रकार अन्त:करण एकरस न रहने से असत् है एवं अन्त:करण न अपने को जानता है न अन्य को जानता है इसलिए जड़ है ।

आत्मा, मन के संकल्प, बुद्धि के निश्चय, चित्त के चिन्तन तथा अहंकार के अभिमान वृत्ति के पूर्व, मध्य एव वृत्ति के अभाव काल में भी स्थित होने से सत है एवं भाव–अभाव का प्रकाशक होने से चेतन है । इस प्रकार आत्मा सत्+चित् भी है ।

अन्त:करण की चारों वृत्तियों में अहंता–ममता करने से दु:ख रूप भी है । विषयासक्त मन दु:खदायी होता है । अविवेकी बुद्धि दु:ख रूप होती है । भूत अथवा भविष्य का चिन्तन दु:ख देता है, धन, पुत्र, देहादि में अहंकार भी दु:ख देता है । इस प्रकार यह दृश्य अहंता–ममता रूप अन्त:करण दु:ख रूप है जड़ पदार्थ न दु:ख रूप होते हैं और न सुख रूप होते हैं ।

आत्मा दु:ख–सुख का प्रकाशक होने से आनन्द स्वरूप है । आत्मा आनन्द स्वरूप न हो तो सुषुप्ति एवं समाधि अवस्था में साधक, संन्यासी को आनन्द नहीं आ सकेगा ।

प्राण आत्मा नहीं :

प्राण आत्मा है ! **अहंता प्रतीति गोचरत्वात् आत्मवत्** में मर जाऊँगा, मैं भूखा हूँ, मैं अभी जिन्दा हूँ ।

१. **प्राण अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? ममता प्रतीति गोचरत्वात् सदनवत् ।** जैसे यह मेरा घर है ।

इस प्रकार जो ममता का विषय यह प्राण आत्मा नहीं है जैसे भूख के मारे मेरे प्राण छट-पटा रहे हैं । मेरे प्राण अभी निकले नहीं है, मेरे प्राण अभी अटके हैं, तुम मेरे प्राण हो ।

अस्तु ममता का जो विषय दृश्य रूप होगा, वह घटवत् अनात्मा ही होगा । इसलिए प्राण अनात्मा है, आत्मा नहीं है । प्राण पक्ष है, अनात्मा साध्य है, ममता हेतु है सदनवत द्रष्टान्त है ।

२. प्राण अनात्मा है । क्यों अनात्मा है ? वायु विकारत्वात् दधिवत् ।

दहि दूध का विकार की तरह प्राण वायु का विकार है आत्मा किसी का विकार नहीं है इसलिए प्राण अनात्मा है ।

३. प्राण अनात्मा है । क्योंअनात्मा है ? कार्यत्वात् घटवत् पांचों प्राण तथा उप प्राण भूतों के मिलित रजोगुण का कार्य होने से आत्मा नहीं है ।

आत्मा कार्य-कारण भाव से रहित अखण्ड, असंग, निर्विकार कूटस्थ है ।

प्राण एकरस न होने से असत् है । स्व-पर बोध से रहित होने से जड़ है । इसके चंचल होने से मन चंचल हो जाता है जो दु:ख का हेतु है ।

आत्मा एकरस होने से सत, जानने से चेतन तथा दु:ख-सुख का प्रकाशक होने से आनन्द स्वरूप है और माया-अविद्या मल से रहित होने से शुद्ध है ।

हे आत्मन् ! मैं अपने द्रष्टा साक्षी आत्म पद में स्थित हुआ हूँ या नहीं इसकी पहचान भी जीव को करलेना आवश्यक है । केवल अपने मुहं से तोता की तरह 'द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, हम' रटलेने से बोल देने से जीव दु:खों से मुक्त नहीं हो सकता ।

मैं द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप में स्थित हूँ इसकी यह पहचान है कि हमारे निश्चय में यह बात दृढता से बैठ जाय कि

'मनोबुद्धिहंकार चित्तानिनाहं'

अर्थात् मन में अच्छे-बुरे विचार के उदय होने अथवा अनुदय होने पर, विकल्पों के उदय और अनुदय में मन के विषय की और जाने-आने, मनकी स्थिरता और चंचलता में जब हर्ष-शोक नहीं तब मैं द्रष्टा, साक्षी आत्म पद में स्थित हुआ हूँ ऐसा समझना चाहिये । तब स्वरूपस्थता की प्राप्ति होगई है । जब 'मैं' मैं रूप में अर्थात् आत्मभाव से रहोगे ।

हे आत्मन् ! मन के चंचलता एवं स्थिरता, मनके विषय की ओर जाने व आने में, मनके उदय और अनुदय में हर्ष-शोक तभी होगा जब हम अपने को आत्मभाव, द्रष्टा भाव, साक्षी भाव से च्यूत हो मन रूप जानेंगे । तब सोचना अभी हमारी स्वरूप में स्थिति नहीं है । अभी हम पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं है । अभी हमारी अवस्था कच्ची है । क्योंकि जब हमने यह स्पष्ट जानलिया कि मैं मन नहीं मन का द्रष्टा हूँ तब मन के भावाभाव, गमनागमन उत्थान, पतन में हर्ष शोक कैसा ? यदि मन की चंचलता की शिकायत बनी रहती है तो तुम बीमार हो स्वस्थ नहीं हो । सद्गुरु द्वारा सत्संग कर स्वस्थ होने का प्रयास करें ।

कारण शरीर

सूक्ष्म तथा स्थूल देह का हेतु अज्ञान है, इसलिये अज्ञान को ही कारण शरीर कहते हैं अपने आप का सम्यक् ज्ञान न होना एवं देहादि को मैं मानना ही अज्ञान है । इस अज्ञान की निवृत्ति सद्गुरु द्वारा बुद्धि में उत्पन्न महाकारण देह अर्थात् आत्मज्ञान से हो जाती है । अज्ञान कारण के नाश होने से उसके कार्य सूक्ष्म एवं स्थूल देह से भी जीव छुटकारा प्राप्त कर लेता है । तब दोनों शरीर के तत्त्व अपने-अपने कारण महाभूतों में लय हो जाते हैं एवं जीव-ब्रह्म के साथ अपना लय (एकत्व) अनुभव कर लेता है । लय का तात्पर्य जैसे घट नाश होने पर घटाकाश का मठाकाश या महाकाश में मिलना नहीं बल्कि ऐक्य अनुभव करना है । घट स्थित आकाश मठस्थित आकाश से एवं मठस्थित आकाश महाकाश से सर्वदा अभिन्न है केवल घट, मठ उपाधि के कारण पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु यह तीन आकाश नहीं एक ही अखण्ड आकाश है उसी प्रकार अविद्या उपाधि से जीव तथा माया उपाधि से ईश्वर ऐसे दो भेद एक ब्रह्म में प्रतीत होते हैं किन्तु जीव ब्रह्म ही है, अन्य हुआ नहीं इसलिये ज्ञान होने पर ब्रह्म में मिल जाता है ऐसा कहना अज्ञान ही होगा ।

जैसे स्थूल शरीर पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों का एवं सूक्ष्म देह अपंचीकृत पंचभूतों के १७ या १९ तत्त्वों का कार्य है, इसी प्रकार कारण शरीर एक अज्ञान का ही कार्य है ।

अज्ञान के कारण ही जिज्ञासु कहता है **'मैं कौन हूँ' ? 'मेरी मुझको खबर नहीं', 'मैं अपने आप को नहीं समझ पा रहा हूँ' । मैं**

आत्मा को नहीं जानता, मैं परमात्मा को नहीं जानता ।

उपरोक्त कथन अज्ञान के हैं जिसे जानने वाला अवश्य कोई ज्ञान स्वरूप है । अन्यथा 'मैं नहीं जानता' ऐसा ज्ञात कैसे होता ? **'मैं आत्मा, परमात्मा को नहीं जानता' यह अपने स्वरूप का अज्ञान बिना ज्ञान के नहीं हो सकता है ।** जैसे–अन्धकार में कोई कहे मुझे कुछ नहीं दिखाई दे रहा है । परन्तु ऐसा कहने वाला देख कर ही तो कह रहा है कि मैंने देखने की चेष्टा की, किन्तु मुझे अन्धकार के अलावा कुछ नहीं दिखाई पड़ा । तो ऐसा जो देखकर कह रहा है, वह ज्ञान स्वरूप ही है, चक्षुवान् ही है ।

भला अज्ञान को क्या अज्ञान जान सकता है ? घड़ा–घड़ी का टाइम बता सकता है ? नहीं । इनको देखने वाला कोई चैतन्य पुरुष इनसे अवश्य पृथक् है । इसी प्रकार **अज्ञान को जानने वाला अज्ञान से पृथक् अवश्य मैं ज्ञानस्वरूपात्मा हूँ** मैं अज्ञान कारण शरीर नहीं हूँ, यह तो मेरा दृश्य है और मैं इससे पृथक् इसका द्रष्टा हूँ ।

हे आत्मन् ! स्वप्न में सब दिखाई पड़ता है बस केवल वह एक ही नहीं दिखाई पड़ता है जो समस्त स्वप्न को प्रकाशित कर रहा है जो स्वप्न का द्रष्टा है । जैसे सिनेमा में सब दृश्य दिखाई पड़ते है केवल वह प्रकाश ही नहीं दिखाई पड़ता है जो सम्पूर्ण चलचित्र को दिखा रहा है । यही स्थिति हमारे जीवन की है सब कुछ होता देख रहे हैं, जान रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं बस वही एक नहीं दिखाई पड़ रहा है जो एक सब को देख रहा है । वह अपना आप हमसे अपरिचित ही रह जाता है । यह भी कोई जिन्दगी है कि हम अपने को बिना जाने जीये चले जारहे हैं । फिर जो अपने को न जान पाया वह परमात्मा को कैसे जान पाएगा ? चांद, तारों तक वैज्ञानिक पहुँच जाता है किन्तु इस शरीर से में कौन हूँ यह छोटी– सी बात नहीं खोजपाता । यह अपने को न जानना प्रमाद का मार्ग है, कृष्णपक्ष की यात्रा है एवं इस देह में अपने को जानलेना अप्रमाद का मार्ग है, अमृत का मार्ग है । शुक्लपक्ष

की यात्रा है । जो अपने को जानकर जी रहा है वह जाग्रत पुरुष अमृत के मार्ग से चल रहा है और जो अपने को न जानकर जी रहा ह, वह अन्धकार का मार्ग है इसीलिये कहा 'उत्तिष्ठत जाग्रत' ।

हे आत्मन् ! यह अज्ञान अनादि काल से इस जीव को ८४ लाख योनियों में भटकाकर दुःख देने वाला है, इसीलिये इसे ८४ लाख शरीरों का कारण होने से कारण शरीर कहा जाता है । यह अज्ञान, अन्धकार की तरह मेरा दृश्य है मैं इसका द्रष्टा आत्मा उससे असंग प्रकाश रूप हूँ ।

जैसे घर की सफाई के लिये पिता ने पुत्र से कहा जाओ घर का सब सामान बाहर निकाल दो । लड़के ने सामान निकालना प्रारम्भ किया कुछ समय बाद पिता ने पूछा क्या सब सामान बाहर कर दिया ? लड़के ने कहा हाँ अब भीतर कुछ भी नहीं है, सब बाहर कर दिया है । तब पिताने कहा ठीक है मैं बाहर से दरवाजा बन्द कर जाता हूँ तब लड़के ने कहा नहीं नहीं पिताजी मैं तो अभी घरके भीतर हूँ । जैसे घर के भीतर अभाव को जानने वाला अवश्य कोई भाव रूप चेतन व्यक्ति है, अन्यथा उसके अभाव से कहा नहीं जा सकता था । अथवा अन्धकार में बुद्धि भी नहीं दिखाई पड़ता, यह कहना भी किसी का होने का ही प्रमाण है । इसप्रकार मैं अज्ञान को जाननेवाला नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ ।

निदिध्यासन

सजातीय (आत्माकार) वृत्ति का प्रवाह एवं विजातीय (अनात्माकार) वृत्ति का तिरस्कार करना ही निदिध्यासन कहलाता है ।

जीव द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का अभिमान करना अर्थात् इन दृश्य अनात्मा के धर्मों को मैं-मेरा मानना ही विजातीय, अनात्माकार वृत्ति या अज्ञान कारण शरीर कहलाता है ।

जैसे मैं मनुष्य, स्त्री, पुरुष, हिन्दु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शुद्र हूँ, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, बालक, युवा, प्रौढ, बृद्ध, गोरा, काला, सुन्दर, असुन्दर, उडिया, बंगाली, मारवाड़ी, पन्जाबी, बिहारी, तेलगु, महाराष्ट्री, पिता, माता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, डायरेक्टर, मैनेजर, मालिक, नौकर, सधवा, विधवा, विधुर नहीं हूँ ।

हे आत्मन् ! परधर्म को अपना मानना ही विजातीय वृत्ति कहलाती है । जैसे मैं चलता हूँ, मैं दौड़ता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्वादलेता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं निश्चय करता हूँ, मैं चिन्तन करता हूँ, मैं अहंकारी हूँ । मैं चतुर्वेदी, मैं त्रिवेदी, मैं द्वेवेदी, मैं वेदी हूँ । मैं प्रोफेसर, कलेक्टर, वकील, डॉक्टर, गायक, तृत्यकार, चित्रकार हूँ । मैं ज्ञानी, मैं अज्ञानी, मैं बद्ध, मैं मुक्त हूँ ।

हे आत्मन् ! इन समस्त अनात्म बन्धन रूप दृश्य वृत्तियों को निवृत करने के लिये, तीन शरीरों, तीन अवस्थाओं का अपने को द्रष्टा, साक्षी, असंग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आनन्द ब्रह्म स्वरूप सदा जानना ही

आत्माकार सजातीय वृत्ति प्रवाह, ब्रह्माभ्यास या महाकारण देह कहा जाता है । जो सद्गुरु द्वारा अनात्माकार वृत्ति को नष्ट करने के लिये उत्पन्न होता है । अन्य साधन इस देह को उत्पन्न कराने में किंचित् भी समर्थ नहीं है । यह चौथा देह उत्पन्न होकर प्रथम तीन देहों के अहंकार को निवृत्त कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है ।

जैसे मिट्टी संयुक्त जल को स्वच्छ पीने योग्य बनाने के लिये निर्मली का चूर्ण जल पात्र में डाला जाता है कुछ समयबाद वह जल में मिट्टी नीचे बैठ जाती है एवं मिट्टी के साथ वह निर्मली भी स्वयं जल में नीचे जाकर बैठ जाती है । अथवा पैर में चुभा कांटा किसी बड़े कांटे से निकालकर दोनों फेंक दिये जाते हैं इसी प्रकार देहभाव रूपी छोटे कांटे को निकालने हेतु सद्गुरु से द्रष्टा,साक्षी आत्मभावरूपी बड़ा कांटा प्राप्त होता है । जब देहभाव रूपी कांटा मन से निकल जाता है तब मैं द्रष्टा, आत्मा हूँ यह प्रबल काटा भी छोड़ दिया जाता है । अथवा देहभाव रूपी बीमारी को कट जाने पर द्रष्टा, साक्षी, आत्म रूप औषधि खाते रहना कर्तव्य नहीं है । औषधि स्वास्थ्य नहीं है । मैं निर्विकल्प निराकार सत्ता मात्र हूँ । जगत् नाम की वस्तु ही मिथ्या है तो मेरा द्रष्टा होना भी मिथ्या है । पुनः जब जगत नाम की वस्तु ही मिथ्या है तो मेरा द्रष्टा होना भी मिथ्या है । इसी तरह जब दृश्य ही मिथ्या है तब मेरा द्रष्टा होना भी मिथ्या है । जैसे पुत्र मिथ्या तो पिता कैसे सत्य हो सकता है ? तब वह केवल पुरुष ही कहा जा सकेगा । ऐसे ही यहाँ एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त जगत कुछ नहीं है । तब मैं किसका द्रष्टा कहला सकुँगा ? अस्तु ! यह द्रष्टा-दृश्य, जड़-चेतन आदि भी जिज्ञासु को सत्यात्मा बोध कराने हेतु प्रारम्भिक शिक्षा है । यह बोध पूर्णता का नहीं है । जब यहाँ एक अखण्ड ब्रह्म ही है तब यह मैं नहीं, यह मैं हूँ ऐसा कहना भी अज्ञान एवं अपने द्वैत को ही सिद्ध करना है ।

मैं महाकारण शरीर नहीं

हे आत्मार्थी ! अभी तक तो तुझे तीन देह, तीन अवस्था, पंचकोश, पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय अन्त:करणादि को दृश्य तथा **तू आत्मा उन समस्त का द्रष्टा है,** यह वृत्ति जन्य विशेष ज्ञान सद्गुरु उपदेश द्वारा मन की वृत्ति में उत्पन्न हुआ है । किन्तु अभ्यास काल को छोड़ मन के व्यवहार काल में यह विशेषज्ञान पुन: लुप्त हो जाता है । इसप्रकार विशेष ज्ञान से अज्ञान तथा अज्ञान का कार्य जो देहाध्यास है उसे दूर करके उसके बाद उस विशेष ज्ञान को भी कल्पित समझ वास्तविक परिपूर्ण सामान्य ज्ञान रूप में बुद्धि को स्थित करने का नाम ही मोक्ष है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन देहाभिमान नाशक यह चौथा विशेष ज्ञान रूप महा कारण देह बताया गया है । सुषुप्ति में समस्त इन्द्रियाँ मनादि लय हो जाते हैं, वहाँ कोई वृत्ति ज्ञान नहीं रहता ।

तीनों देह की अपेक्षा से महाकारण देह चौथा कहलाता है । अज्ञान तथा उसका कार्य रूप जो देहादिक प्रपंच है उसकी अत्यन्त निवृत्ति का मुख्य कारण होने से इसे महाकारण देह कहा जाता है । उस महाकारण देह का वास्तविक ज्ञान सद्गुरु उपदिष्ट ज्ञान है । इसलिये उस ज्ञान को किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ ऐसे दो विशेषण वाले सद्गुरु द्वारा ही प्राप्त करना चाहिये । उनके द्वारा 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त महावाक्य के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ही **मैं ब्रह्म हूँ, सोऽहं, 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहंब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों का लक्ष्यार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये । मैं, द्रष्टा, साक्षी, कूटस्थ आत्मा हूँ यह विशेष ज्ञान जो मन की वृत्ति में उत्पन्न हुआ है उसी का

नाम चौथा महाकारण देह है, उसका भी प्रकाशक तू द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, नित्य, मुक्त सामान्य ज्ञान स्वरूप है । यह विशेष वृत्ति ज्ञान जाग्रत अवस्था में अभ्यास काल में ही रहता है, किन्तु व्यवहार काल तथा सुषुप्ति में यह विशेष ज्ञान का भान नहीं रहता है, इसलिए तीनों अवस्थाओं में एकरस नहीं होने से यह ज्ञान विशेष, परिच्छिन्न एवं अनित्य है । इस ज्ञान विशेष का प्रकाशक तू सामान्य ज्ञान रूप आत्मा अस्ति, भाति तथा प्रिय रूप से आकाश की तरह जगत में सर्वत्र स्थित है ।

मोक्ष के जिज्ञासुओं को जो प्रथम अवस्था में दृश्य की अपेक्षा से द्रष्टा भाव कल्पित बताया गया था, उस द्रष्टा, साक्षी रूप विशेष ज्ञान द्वारा कर्ता–भोक्ता भाव रूप अनादि, अज्ञान की निवृत्ति कर अपने सामान्य ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करना चाहिये । इस प्रकार सामान्य ज्ञान स्वरूप अनुभव हो जाने पर सद्गुरु से प्राप्त द्रष्टा, साक्षी, कूटस्थादि विशेष ज्ञान का अपने को प्रकाशक अनुभव करना चाहिये तथा इस द्रष्टा, साक्षी, ज्ञान को अज्ञान की निवृत्ति का साधन मात्र ही जानना चाहिये ।

हे आत्मन् ! रोग निवृत्ति हेतु रोगी को डॉक्टर द्वारा कुछ औषधियाँ एवं पथ्य साधन बताया जाता हैं, एवं स्वास्थ्य लाभ पश्चात् उन औषधियों का भोजनवत् सदा ग्रहण कर्तव्य रूप नहीं होता है बल्कि त्याग करना ही कर्तव्य रूप होता है क्योंकि सदैव औषधि ग्रहण करना स्वास्थ्य का नहीं बल्कि रोगी का ही लक्षण है ।

अथवा जैसे वर्षाकाल में नदियों के मिट्टी युक्त पानी को पीने योग्य करने के लिये निर्मली का चूर्ण या फिटकड़ी का टुकड़ा डाला जाता है । वह पानी की गन्दगी (मिट्टी) को नीचे बिठाकर साथ स्वयं भी नीचे बैठ जाता है । इसी प्रकार महाकारण देह भी तीनों देहों के अभिमान नाश के बाद स्वयमेव निवृत्त हो जाता है ।

हे आत्मन् ! उपरोक्त दोनों उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट होता है कि मैं देह हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, मैं जन्म-मृत्यु वाला हूँ, मैं अज्ञानी बद्ध दुःखी जीव हूँ, इस प्रकार के अनादि भ्रम रोग को दूर करने हेतु किसी सद्गुरु रूपी वैद्य ने जीव रूप रोगी को **मैं अजन्मा, अविनाशी, अकर्ता-अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, ज्ञान, मुक्तानन्द स्वरूप ब्रह्म औषधि** का निदिध्यासन रूप पथ्य द्वारा कुछ काल नियमित सेवन कराया, किन्तु जब मैं, जन्म-मृत्यु वाला, कर्ता-भोक्ता, दुःखी, बद्ध जीव हूँ, यह भ्रम रोग निवृत्त हो जाता है, तब फिर इस औषधि को नित्य सेवन करने की भी आवश्यकता नहीं रही । अथवा नदी पार करने हेतु नौका का आलम्बन लिया जाता है । नदी पार हो जाने के बाद उस आराम दायक नौका का त्यागकर अपने घर में पहुँचना ही शान्ति का हेतु है, नौका में बैठे रहना नहीं । इसी प्रकार वृत्ति में उत्पन्न देह भाव को द्रष्टा, साक्षी रूप विशेष ज्ञान द्वारा निवृत्त कर, मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस विशेष ज्ञान से ही अहंकार त्याग कर, अपने निर्विकल्प स्वरूप में स्थिति करना ही परम मोक्ष है ।

यह निर्विकल्प स्वरूप ही सब जीवों का वास्तविक नित्य सिद्ध स्वरूप है । प्रत्येक प्राणी प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य इसी स्वरूप से स्थित होकर कर रहे हैं । क्योंकि सत्य वस्तु का कभी अभाव नहीं होता है । साधन द्वारा प्राप्त प्रत्येक वस्तु या स्थिति का नाश अथवा अभाव हो जाता है आत्मवस्तु नित्य सिद्ध सबका सहज स्वभाव है । साधन से पूर्व जो नहीं था एवं साधन से प्राप्त हुआ है वह अनित्य ही कहलाता है । **'यत् साध्यम् तत् अनित्यम्', 'सदामे समत्व न बन्धः न मुक्ति', 'चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' ।**

◈ ◈ ◈
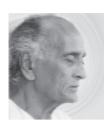
जाग्रतावस्था

जिस काल में जीव द्वारा होश पूर्वक देश, काल, वस्तु सहित व्यवस्थित कार्य होता रहता है, उस दशा को बुद्धि की जाग्रत अवस्था कहते हैं । इस अवस्था में जीव का स्थान नेत्र है, वाणी वैखरी, स्थूल भोग, क्रिया शक्ति, स्थूल शरीर, रजोगुण और ओम की अकार मात्रा है और इस अवस्था के अभिमानी जीव की संज्ञा **विश्व** होती है ।

जाग्रत अवस्था में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार, श्रोत्र त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा गुदा आदि चौदह त्रिपुटियों द्वारा स्थूल व्यवहार होता है ।

त्रिपुटी

अध्यात्म (इन्द्रिय), अधिदेव (देवता) तथा अधिभूत (विषय) मिलकर एक त्रिपुटी होती है । इस प्रकार उपरोक्त १४ त्रिपुटियों के ४२ तत्त्वों की यह जीव की जाग्रत अवस्था कहलाती है । इन अवस्था में जिस इन्द्रिय की त्रिपुटी पूर्ण नहीं होती है उस इन्द्रिय विषय का ज्ञान नहीं हो पाता है ।

त्रिपुटी कोष्टक

इन्द्रिय (अध्यात्म)	देवता (अधिदेव)	विषय (अधिभूत)
मन	चन्द्रमा	संकल्प–विकल्प
बुद्धि	ब्रह्मा	निश्चय
चित्त	विष्णु	चिन्तन

अहंकार	शंकर (रुद्र)	अभिमान
श्रोत्र	दिशा	शब्द
त्वचा	वायु	स्पर्श
चक्षु	सूर्य	रूप
जिव्हा	वरुण	रस
घ्राण	अश्वनी कुमार	गंध
वाक्	अग्नि	बोलना
पाणि (हाथ)	इन्द्र	लेना देना
पाद	उपेन्द्र	गमन
उपस्थ	प्रजापति	मैथुन, मूत्र
गुदा	यमराज	मल त्याग

हे आत्मन् ! कोष्टक में दिखाई गई चौदह त्रिपुटियों में से जिसका व्यवहार न हो वहाँ समझना होगा कि उसमें इन्द्रिय, देवता या उसके विषय में से किसी एक का अभाव अवश्य है । किसी भी एक तत्त्व की कमी से उस विषय का ज्ञान नहीं हो पाता है । तू इनमें से कोई भी अवस्था वाला नहीं है वरन् उनके होने न होने या उनके मंद, तीव्र, पटुता स्वभाव का द्रष्टा, उनको जानने वाला साक्षी आत्मा है । अपने को सर्वथा पृथक् जान ।

हे आत्मन् ! जाग्रत अवस्था के व्यवहारों का सम्पादन प्राय: नेत्रों के द्वारा होता है, इसलिए इसका स्थान नेत्र माना जाता है तथा कण्ठ, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, नासिका, हृदय और मस्तिष्क इन आठों के योग से जो प्रकट वाणी बोली जाती है, वह वैखरी वाणी होती है । जाग्रत अवस्था में सुख-दु:ख का भोग जिन पदार्थों से प्राप्त होता है वे स्थूल पदार्थ होते हैं । इसलिए जाग्रत का भोग स्थूल भोग कहलाता है । यहाँ क्रिया शक्ति द्वारा चौदह त्रिपुटियों का व्यवहार होता है तथा रजोगुण प्रधान होता है । यह

अवस्था ओम् की प्रथम मात्रा अकार मानी जाती है तथा देह एवं संसार की वस्तुओं में ममत्व होने से जीव की संज्ञा विश्व कहलाती है ।

हे आत्मन् ! तू इन सब का जानने वाला साक्षी है । इनमें से कोई भी तत्त्व तेरा नहीं है । इसलिए नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध परिणाम एवं जन्म-मृत्यु रूप देहाभिमान छोड़कर इन सात चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिये ।

घट द्रष्टा घटात्भिन्न: सर्वथा न घटो यथा ।
देह द्रष्टा तथा देहो नाहमित्यैव धारयेन ।।

– शंकराचार्य वाक्य वृत्ति

जैसे घट का द्रष्टा घट से भिन्न है, किन्तु किसी प्रकार भी घट नहीं होता, वैसे ही देह का द्रष्टा आत्मा भी देह से भिन्न होने के कारण देह नहीं हो सकता है । ऐसा निश्चय सभी देहधारियों को करना चाहिए क्योंकि यही निश्चय एकमात्र जीव को जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति दिलाने का सहज साधन है ।

जैसे किसी महिला के गले की चैन कुआँ में गिर गई उस समय एक पथिक वहाँ पानी पीने पहुँचा । तब उस महिलाने अपने गले की चैन कुऐ में गिरजाने की बात कही । वह पुरुष उस चैन को खोजने पानी की गहराई तक पहुँचा । वहाँ उसे वह चैन मिल तो गई किन्तु वहाँ मिलते ही कह नहीं सका कि बहन तुम चिन्ता मत करो मुझे तुम्हारा चैन मिलगई है । पानी से बाहर आकर ही वह गोताखोर कहपाया कि यह तुम्हारी चैन मिलगई । उस का कारण यह है कि पानी में कहने के लिये वाणी की त्रिपुटी चाहिये । वाणी का देवता अग्नि है जिसका पानी से विरोध है ।

स्वप्नावस्था

हे आत्मन् ! जीव का भोग स्थल बुद्धि की द्वितीयावस्था 'स्वप्न' है । इसका स्थान कण्ठ, मध्यमा वाणी, सूक्ष्म सुख-दुःख रूप भोग, ज्ञान शक्ति, सत्त्वगुण, ओंकार की द्वितीय मात्रा ''उ'' तथा उस अवस्था का अभिमानी जीव तैजस कहलाता है ।

जाग्रत अवस्था के देखे, सुने, भोगे एवं किये विषयों के अन्तःकरण पर जो संस्कार पड़ते हैं, उन्हीं के योग से यहाँ निद्रावस्था में नगर, भवन, पर्वत, नदी, समुद्र, मार्ग, हाथी, घोड़े, पक्षी, प्रियजन, शत्रु मित्र संयोग-वियोग आदि तथा उनसे सम्बन्धित हानि-लाभ आदि का दुःख-सुख रूप में सूक्ष्म भोग होता है । यह स्वप्नावस्था यद्यपि सत्य नहीं होती, किन्तु सत्य-सी प्रतीत होती है । हे आत्मन् ! यह अवस्था तेरी नहीं वरन् चिदाभास युक्त बुद्धि की अथवा सूक्ष्म शरीर की है तू तो उसे देखने वाला उससे भिन्न उसका साक्षी मात्र है ।

इस अवस्था में वासनामय सूक्ष्म भोग होते हैं । जैसे किसी शीशी, डब्बी, बर्तन में हींग, कपूर, इत्र, कस्तूरी आदि कोई सुगन्धित वस्तु समाप्त होने पर भी उनकी सुगन्ध उन पात्रों में से आती रहती है, वैसे ही स्वप्नावस्था में जाग्रतावस्था के किसी भी भोग के न रहने पर भी उन भोगों के सूक्ष्म संस्कार बने रहते हैं । जैसे जाग्रतावस्था में कोई शस्त्र से मारे तो धाव हो जाता है किन्तु स्वप्नावस्था में कोई हाथ, पैर काट दे तो भी न घाव होता है और न रक्त ही निकलता है । इस अवस्था में ऐसा लगता है जैसे कोई मार रहा है, गला दबा रहा है, स्वयं असहाय रूप प्रतीत होता है । कहीं धन मिल जाता है तो कहीं आकाश में उड़ता है । कहीं इसे साँप पकड़ लेता है

तो कहीं पानी में डूबता दिखाई पड़ता है परन्तु जाग्रतावस्था में इनका कोई भी चिन्ह उसके साथ नहीं होता है ।

हे आत्मन् ! स्वप्न अवस्था में जाग्रत की तरह स्थूल क्रिया व्यवहार नहीं होता, केवल विषयों का ज्ञान ही रहता है इसलिये इस अवस्था में ज्ञान शक्ति है एवं ज्ञान सत्त्वगुण का कार्य होने से यह सत्त्वगुण रूप अवस्था है । हे आत्मन् ! तू उपरोक्त स्वप्नावस्था के आठ तत्त्वों का द्रष्टा है । तू यह तत्त्व नहीं है, ये तत्त्व भी तेरे नहीं है, तू तो उनको जानने वाला आत्मा है ।

किन्तु स्वप्नावस्था की दो क्रियाएँ जाग्रत में भी पायी जाती है । एकतो मूत्र त्याग स्वप्न में करते हुए देखा गया तो बिस्तर भी सुबह गीले मिलते हैं । दुसरा स्वप्न में किसी को काम विकार हुआ तो जाग्रत में भी उसके कपड़ों में वीर्य पात दिखाई पड़ता है ।

उमा कहहु में अनुभव अपना ।
सत हरिभजन जगत सब सपना ।।

भगवान शंकर उमा को समझा रहे हैं कि यह समस्त जगत व्यवहार एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है । क्योंकि स्वप्नावस्था में दिखाई पड़ने वाली मान-अपमान, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, पुण्य-पाप, चोरी-हत्या, दान, अगं छेदन, मुत्यु, सन्तानो प्राप्ति आदि किसी भी घटना का जाग्रत पुरुष के साथ किसी प्रकार का सुख-दुःख, लाभ-हानी, पुण्य-पाप रूप सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है ।

हे उमा ! इसी प्रकार इस अज्ञानी जीव द्वारा जाग्रत जगत में हुई किसी भी प्रकार की धटना का जीव के साथ तभी तक सम्बन्ध बना रहता है जब तक कि इसे अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप का बोध नहीं हुआ है । जब सद्गुरु की कृपा द्वारा जीव को उसके वास्तविक द्रष्टा, साक्षी, आत्मभाव की जागृति हो जाती है, तब यह समस्त व्यवहारिक जगत् उसके लिये स्वप्नवत् असत् हो जाता है ।

सुषुप्ति अवस्था

जहाँ बुद्धि सहित समस्त इन्द्रियों के विषय और विषय वृत्ति अज्ञान में लीन हो जाती है तथा जाग्रत और स्वप्न के कोई भी कार्य की किंचित् भी प्रतीति नहीं होती उस गहरी निद्रावस्था को सुषुप्ति कहते हैं । यहाँ पर केवल अज्ञान एवं सुख का ही सबको एक समान अनुभव होता है । यहाँ चोर-अचोर, वेद-अवेद, पापी-निष्पापी हो जाते हैं अर्थात् यहाँ किंचित् भी द्वैत की प्रतीति नहीं होती है ।

हे आत्मन् ! यह सुषुप्ति अवस्था दृश्य है तू इसका द्रष्टा है । यदि सुषुप्ति में अज्ञान एवं आनन्द का अनुभव न किया होता तो जाग्रत में उसका स्मरण कैसे होता ? यह नियम है कि जिसने अनुभव किया है वही उसका स्मरण कर पाता है । अन्य का अनुभूति अन्य के स्मरण का विषय नहीं बनता है ।

हे आत्मन् ! तू अज्ञान एवं सुख नहीं, न ये तेरे हैं तू तो इनसे विलक्षण ज्ञानानन्द रूप सत्य आत्मा है । ये अवस्था तो अन्य समय में नहीं होती, किन्तु तू इनका साक्षी सदा विद्यमान रहता है । सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण वाणी आदि बोलने देखने के कारणों का अज्ञान में लय हो जाने से उस समय के अनुभव को जाग्रत में अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के संयोग को प्राप्त कर स्मरण कर बताता है ।

इस अवस्था में हृदय स्थान, पश्यन्ति वाणी, आनन्द भोग, द्रव्य शक्ति, तमोगुण, मकार मात्रा और अभिमानी जीव प्राज्ञ, इस प्रकार कुल आठ तत्त्व है । तू इन आठ तत्त्वों को जानने वाला साक्षी आत्मा इनसे पृथक् है, ऐसा निश्चय कर सुख से विचरण कर ।

◈ ◈ ◈

तूरीय (चौथी अवस्था)

तुरीय तथा तुरीयातीत एक ही शुद्ध आत्मा का नाम है । जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्था को जानने वाला अखंड, एकरस, आत्मा इन तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से तुरीय कहलाया है । किन्तु इन तीन अवस्था की असिद्धि हो जाने से आत्मा का फिर कल्पित तुरीय नाम भी नहीं रह सकेगा । तीन अवस्था की अपेक्षा से उसे तुरीयातीत नाम से पुकारा जाता है । किन्तु ऐसा कहने का अभिप्राय यह नहीं कि वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इन चार से पृथक् कोई पांचवी भिन्नावस्था है । अत: तुरीयातीत कहने का अभिप्राय तुरीय नाम संज्ञा से रहित निरूपाधिक शुद्ध आत्मा है । वेदान्त में भी कहा है –

यदि जागरित प्रभृति त्रितयं,
परिकल्पित आत्मनि मूंढधिया ।

अभिधानमिदं तदपेक्ष्य भवेत्,
परमात्मपदस्य तुरीयमिति ।।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इस प्रकार तीन अवस्थाओं को मूढ़ बुद्धि वाले पुरुषों ने आत्मा में मिथ्या आरोपित कर लिया है ।इसलिये आत्मा का सत्य स्वरूप सिद्ध करने हेतु उसका चौथा तुरीय नाम रखा गया । जैसे आप बाम्बे में रहते हैं तभी तक बाम्बे के द्रष्टा रहेंगे, किन्तु जैसे बाम्बे से भिन्न शहर की ओर चले, वैसे आप बाम्बे शहर के द्रष्टा भी नहीं रहे । दृश्य की अपेक्षा द्रष्टा नाम है । जब दृश्य ही मिथ्या है तब उसकी अपेक्षा से रखा

द्रष्टा नाम भी कैसे सत्य रहेगा ? अत: वह भी मिथ्या है । केवल शुद्ध स्वरूपी आत्मा ही सत्य है ।

इस तुरीय अवस्था का मुर्धन्य स्थान है । यह तुरीय आत्मा समस्त शरीर में नख से शिखा तक व्याप रहा है । मूर्धन्य स्थान में कहने का तात्पर्य यह है कि वह स्थान सबसे स्वच्छ है । जैसे सूर्य सब स्थानों पर प्रकाश करता है, किन्तु शीशे पर विशेष प्रकाशित होता है क्योंकि अन्य स्थानों की अपेक्षा वह अधिक निर्मल है । इसी प्रकार मूर्धन्य स्थान, देह के अन्य स्थानों की अपेक्षा सत्वगुण प्रधान है, इसीलिये वहां चैतन्य का विशेष प्रकाश रहता है । वैसे आत्मा आकाश की तरह समान रूप से भीतर-बाहर ओत-प्रोत है, केवल स्थान पात्रता का ही भेद है । किन्तु हृदय में विशेष रूप से प्रतिबिम्बित होता है ।

हे आत्मन् ! वाणी का मूल उद्गम स्थान परा है तथा गुरु और शास्त्र से आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से जो आनंद आता है कि मैं धन्य हो गया । मेरा जन्म सफल हो गया । सब दुःख दूर हो गये । इस प्रकार विशेष आनन्द का अनुभव होता है, उसका नाम आनन्दाभास भोग कहा है । ज्ञान होने के बाद निर्विकल्प सुख का अनुभव करने की इच्छा होती है उसका नाम इच्छा शक्ति है । इस अवस्था में प्रणव की चौथी अर्द्ध मात्रा होती है एवं मैं उसका द्रष्टा हूँ, ऐसा जो अभिमान है उसे प्रत्यगात्मा अभिमान कहते हैं । इस प्रकार इन तत्त्वों का द्रष्टा सामान्य पूर्ण ज्ञान स्वरूप आत्मा है । उपाधि रहित '**अहंब्रह्मास्मि**' '**मैं शुद्ध ब्रह्म हूँ**' ऐसा विचार जब दृढ़ता पूर्वक हो जाता है तब उस स्थिति का नाम आत्म साक्षात्कार या अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है । इसी अवस्था को सहज समाधि कहते हैं ।

मैं पंच कोशातीत हूँ

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय: ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।

– ७/२४ गीता

मूर्ख लोगों को मेरा अजन्मा, अविनाशी स्वरूप प्रतीत नहीं होता इसलिये वो मुझ अव्यक्त को मूर्ति रूप व्यक्त हुआ ही मानते हैं ।

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत: ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।

– गीता : ७/२५

योगमाया (पंचकोश तथा पच्चीस तत्त्व) से अच्छादित होने के कारण मैं सबको प्रगट नहीं दिखाई पड़ता हूँ, इसलिये मूर्ख लोग मुझ अजन्मा तथा अविनाशी आत्मा को इस प्रकार से नहीं जानते हैं, बल्कि जन्म-मरण रूप ही मानते हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि: सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्यम् ।।

– गीता : ७/१३

समस्त जगत् सत, रज तथा तम इन तीनों गुणों की उपासना में मोहित हुआ मुझे त्रिगुणरहित, शुद्ध, नित्य ब्रह्म को नहीं जानते हैं क्योंकि –

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमा: ।
माययापहृत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ।। – ७/१५

नाम, रूप सत, रज, तम माया ने जिनका ज्ञान हरण कर लिया वे मूढ़ पापी तथा नाम, रूप देह भाव की शरण रहने वाले अधम जीव अस्ति, भाति तथा प्रिय मुझ आत्मब्रह्म की शरण में नहीं आते हैं ।

अस्तु जब जीव अपने पाँच कोशों से अतीत अपने आत्मा के स्वरूप को जान लेगा कि मैं तो सत्-चित्त आनन्द स्वरूप हूँ । तब वह सदैव आनन्द सागर में ही डूबा रहेगा फिर :-

''दु:ख लवलेश न सपनेहुँ ताके''
'मोह दरिद्र निकट नहीं आवा'
परम अविधा तम मिटि जाई ।
ताते जनम-मरण दु:ख मिटि जाई ।।

अत: उन पाँच कोशों से परे जो आत्मा है उसको जानना ही ज्ञान है, किन्तु उसके पास पहुंचने से पूर्व उसके ऊपर आवरण को हटाना जरूरी है । अस्तु तीन शरीरों के अन्तर्गत पाँच कोशों का ज्ञान कर लेना आवश्यक है । कोश तलवार के रखने के म्यान को भी कहते हैं, कोश धन को छुपाकर रखने के नाम को भी कहते हैं, उसी प्रकार आत्मा को सुरक्षित छुपा रखने वाले भी पंच कोश हैं, उनसे आत्मा को पृथक् जानना ही सत्य ज्ञान है ।

अन्नमय कोश-स्थूल शरीर

भूमि से उत्पन्न हुए अन्न, कन्दमूल, फल, जल को स्त्री-पुरुष द्वारा खाकर जो परिणाम में रज-वीर्य रूप में बदलता है । उन दोनों के धातुओं का गर्भाशय में सम्मिश्रण से यह स्थूल देह की रचना होती है तथा जन्मने के बाद माँ के द्वारा खाये भोजन का दूध बनकर बच्चे द्वारा पान करने से शरीर विकसित होता है, फिर अन्न ग्रहण करते-करते बड़ा होकर मरने पर जला देने पर या गाढ़ देने पर पुन: अन्न रूप पृथ्वी में किसी भी तरह मिल जाता है। इस प्रकार अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर आत्मा का बाहरी रूप में प्रथम

मुख्य कोश है, इसे अन्नमय आत्मा ढका हुआ है, यह अन्नमय कोश मेरा दृश्य है और मैं इसका द्रष्टा आत्मा इससे भिन्न हूँ । ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

सूक्ष्म देह – प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश

प्राणमय कोश : पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर सूक्ष्म शरीर वाला प्राणमय कोश कहा जाता है ।

पंच प्राण – व्यान, उदान, समान, प्राण, अपान ।

पंच कर्मेन्द्रियाँ – वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा ।

इस प्रकार यह प्राणमय कोश आत्मा को ढके हुए है । अत: तू इस कोश का भी द्रष्टा इससे भिन्न आत्मा है, इस प्राणमय कोश के अन्दर मनोमय कोश है ।

मनोमय कोश – श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक मन मिलकर मनोमय कोश कहलाता है, इससे भी भिन्न तू आत्मा है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये । इसी मनोमय कोश के अन्दर विज्ञानमय कोश है ।

विज्ञानमय कोश – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक बुद्धि यह छ: मिलकर विज्ञानमय कोश बनता है, लेकिन हे जीवात्मा ! तू इससे भिन्न इनको जानने वाला द्रष्टा इनका साक्षी कूटस्थ आत्मा है । यह दृढ़ निश्चय कर अपने को सबसे पृथक् जानना चाहिये । इस प्रकार प्राण, मन तथा विज्ञानमय यह सूक्ष्म शरीर के तीन कोश कहे जाते हैं । यह सूक्ष्म शरीर ही कर्ता–भोक्ता, पापी–पुण्यात्मा, सुखी–दु:खी, ज्ञानी–अज्ञानी, चंचल–शांत, बन्ध–मोक्ष, स्वर्ग–नरक, चौरासी लाख योनियों में आवागमन वाला है । यह सब धर्म तुझ चैतन्य आत्मा के नहीं है । इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध यह कार्य ज्ञानेन्द्रियों के हैं, तथा बोलना, लेना–देना, चलना, रति भोग, मूत्र

तथा मल त्याग यह कार्य कर्मेन्द्रियों का है एवं भूख-प्यास प्राण के धर्म है, यह सब तेरे में नहीं है, तू इन तीनों कोश से भिन्न असंग, साक्षी, आत्मा है । अस्तु ! है जीव तुझे जन्म-मरण के भयानक दु:ख से मुक्ति पाने हेतु उसे किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेना चाहिये । उसके द्वारा अपनी शंका का समाधान कराकर अपने आत्म स्वरूप के प्रति निसंशय होकर जीवन मुक्ति लाभ करना चाहिये ।

कारण शरीर-आनन्दमय कोश

कारण शरीर रूप अविद्या में जो मलिन सत्त्व है, उसको प्रिय, मोद तथा प्रमोद इन तीन प्रकार की वृत्ति से जो सुख प्राप्त होता है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं ।

प्रिय – अपने मन इच्छित वस्तु को देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे प्रिय कहते हैं ।

मोद – मन इच्छित वस्तु प्राप्त होने पर जो आनन्द होता है, उसे मोद कहते हैं ।

प्रमोद – मन इच्छित प्राप्त वस्तु के भोग में जो आनन्द आता है उसे प्रमोद कहते हैं ।

इस तरह विषय जन्य सुख से शुद्ध निर्विकार आत्मानन्द ढका रहता है और इसीलिए उस विषय जन्य सुख को मलिन सत्त्व गुण का आनन्द कहते हैं । यह आनन्दमय कोश कारण शरीर का है, उस आनन्दमय कोश का प्रकाशक सारभूत विलक्षण आनन्द तू आत्मा है । इन सब कोशों का साक्षी सच्चिदानन्द, नित्य, निरन्तर (भेद रहित) निरतिशय (जिससे कोई अधिक नहीं) ऐसा परमानन्द रूप जो आत्म ब्रह्म है, 'वह मैं हूँ' (सोऽहम्) ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये ।

◈ ◈ ◈

ज्ञानाग्नि की महिमा

जीव को अनादि काल से अपने सच्चिदानन्द द्रष्टा साक्षी आत्म स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि जड़ प्रकृति के कर्मों में, मैं-मेरा भाव रूप आत्माभिमान कर जन्म-मरण के प्रवाह में बहता चला आ रहा है । तब प्रश्न होता है कि क्या अनन्त जन्मों से संसार चक्र में भ्रमित कराने वाली संचित् पुण्य-पाप राशि को नष्ट करने में पुन: अनन्त जन्म व्यतीत करना पड़ेगा ? नहीं ऐसा सोचना अविवेक ही होगा । एक बार भली प्रकार सद्गुरु की कृपा से ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर वह जीव द्वारा अनादि से संचित् अनन्त पुण्य-पाप राशि को जला कर भस्म करने में विलम्ब नहीं ! करेगी । ज्ञानाग्नि के बिना जीव के अनादि संचित् अनन्त कर्म बीज राशि को भोग कर या यज्ञादि शुभ कर्मों द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकेगा ।

जैसे किसी गुफा में करोड़ों वर्षों से अन्धकार हो एवं वहाँ दीपक, मशाल, बिजली आदि साधनों से प्रकाश कर दिया जावे तो अन्धकार को अदृश्य होने में थोड़ी भी देर नहीं लगेगी, किन्तु प्रकाश के बिना अन्धकार हटाने का जितना भी अन्य साधन किया जायगा, वह मात्र परिश्रम ही होगा ।

स्वल्पापि दीप कणिका बहुल नाशयेत्तम: ।
स्वल्पोऽपि बोधो महति बहुलं नाशयेत्तम: ।। – आत्मबोध उप. ९

जैसे छोटा सा दीपक महान् अन्धकार का नाश करने में समर्थ है, उसी प्रकार थोड़ा सा स्वरूप ज्ञान भी अनादि संचित् अनन्त पाप-पुण्य राशि

को भस्म कर देने में समर्थ है । अन्धकार चाहे वर्तमान का हो, चाहे दीर्घकालीन हो, प्रकाश होते ही वह अदृश्य हो जाता है । वैसे ही जीव के संचित कर्म चाहे पुराने हो या नये, आत्म बोध से संचित् कर्म बिना भोगे ही निवृत्त होने में देर नहीं लगती है । श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी ज्ञान अग्नि की महिमा बताते हुए कह रहे हैं –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। – गीता ४/३७

हे अर्जुन ! जैसे जलती हुई अग्नि समस्त ईंधन राशि को भस्म कर देती है वैसे ही सद्गुरु शरणापन्न जिज्ञासु अपने कर्मों को स्वयं द्रष्टा, साक्षी, भाव रूप ज्ञान अग्नि द्वारा भस्म कर देता है । **मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ,** यही ज्ञानाग्नि का स्वरूप है । इस ज्ञानाग्नि द्वारा जीव का अनादिकालीन देहाभिमान नष्ट होकर जीवित ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । सभी संशय समाप्त हो जाते हैं एवं जीव शिव स्वरूप का अपने प्रति निश्चय कर **'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अहंब्रह्मास्मि', 'मैं ब्रह्म हूँ'** ऐसा अनुभव करने लगता है ।

यदि कोई यह सोचे कि हम नूतन कर्म नहीं करेंगे एवं पुराने संचित कर्म भोगकर समाप्त करदेंगे तो बिना ज्ञान के एक दिन मुक्त हो जायेगें–इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव अनन्त जन्मों में भी अपने संचित् कर्मों को भोग कर समाप्त नहीं कर सकेगा । क्योंकि जीव एक जन्म में आगामी १०० जन्मों का कर्मभोग संचय करलेता है । इस प्रकार अपने संचित राशि की ही वृद्धि करता रहेगा । अब यदि कहें कि हमारा गलत कर्म क्षीण हो जायेंगे और हम बिना ज्ञान के संसार बन्धन से मुक्त हो जायेंगे । 'नहीं' ? ऐसा भी नहीं क्योंकि कोई भी जीव एक क्षण को भी बिना कर्म किये नहीं रह सकेगा, ऐसा प्रकृति का नियम है ।

◈ ◈ ◈

ज्ञानी को पाप-पुण्य नहीं

ज्ञानी को पाप तथा मन की चंचलता दूर करने हेतु कर्म उपासना करना आवश्यक नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानी की बुद्धि में पाप-पुण्य का आश्रय दाता, उत्पन्न करने वाला, भोक्ता अन्त:करण अपने से पृथक् भासित नहीं होता है और उस अन्तःकरण का आत्मा से परमार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है । अन्त:करण अविद्या का परिणाम है किन्तु अज्ञान के कारण आत्मा से पृथक् सत्य-सा प्रतीत होता है । जैसे सीपी में चांदी, मरुस्थल में पानी, आकाश में श्यामता भ्रमसे प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा में अन्त:करण की प्रतीति होती है, किन्तु ज्ञानी को यह अविद्या स्वरूप से भिन्न असत्य ही प्रतीत होती है । अत: शुभ अथवा अशुभ कार्यों को करने तथा न करने से ज्ञानी को कोई प्रयोजन नहीं है । वह कर्म करे तो लाभ नहीं न करे तो उसकी कोई हानि नहीं । ज्ञानी अन्त:करण के धर्मों को अपना नहीं मानता, इसलिये उसे पाप निवृत्ति एवं मन शान्ति के साधन की भी कर्तव्यता नहीं रहती है ।

जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द हेतु वेदान्त महावाक्यों के अर्थ का चिंतन ही प्रयोजन रहता है । जिससे ब्रह्माकार वृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का प्रतिक्षण अनुभव होता रहता है किन्तु कर्म, उपासनादि भेद मूलक कर्मों के करने की तो उसे किंचित् भी आवश्यकता नहीं है ।

हे आत्मन् ! ज्ञानवान् वेद आज्ञा का दास नहीं होता है इसी वास्ते उसको पुण्य-पाप भी स्पर्श नहीं करते हैं । संसार में भी प्रसिद्ध है 'जैसी मति तैसी गति' अर्थात् जो अपने को बद्ध मानता है वह बद्ध रहता है एवं

जो मुक्त मानता है वह मुक्त रहता है । जिस ज्ञानी ने अन्त:करण के धर्म पुण्य–पाप, सुख–दु:ख, बन्ध–मोक्ष आदि को दृश्य रूप में भली प्रकार पहचान लिया है उस ज्ञानी द्वारा यदि संसार के सभी जीवों की हत्या हो जाय तो भी वह कर्तृत्वाभिमान न होने के कारण किंचित् भी पाप को प्राप्त नहीं होता है । वह कर्मों का द्रष्टा, साक्षी होने से कर्म फलों से असंग ही रहता है । अन्त:करण के धर्मों को आत्मा (मैं) के धर्म कभी स्वीकार नहीं करता है । अस्तु जो अज्ञानी अपने में पुण्य–पाप मानता है उसी को पुण्य–पाप का भय सताता है और उसी को पुण्य–पाप स्पर्श करते हैं किन्तु आत्मज्ञानी को पुण्य–पाप नहीं लगते हैं इसे इस द्रष्टान्त से ठीक से समझा जा सकता है ।

एक पण्डितजी किसी ग्राम को जा रहे थे, रास्ते में एक खेत के किनारे वृक्ष के नीचे बैठ आराम करने लगे, वहीं खेत का मालिक जाट हल जोत रहा था । जब उसके भोजन का समय हुआ तो वह खेत के कुएँ पर स्नान कर अपनी पत्नी की प्रतीक्षा करने लगा, जब कुछ देर बाद जाटनी आयी तो उसे पास आते ही जोरों से चिल्लाने लगा कि अरे रांड तू कहाँ मरी थी ? तेरा खसम मरे, तेरे घर में आग लगे । तेरा बेटा मरे । रांड तू नपूती हो जा इत्यादि । जब जाट को उस स्त्री के प्रति गालियाँ देते पण्डित जी ने सुना तो पूछा भाई तू इतनी गाली जिसे निष्ठुरता से दे रहा है यह तेरी कौन लगती है ? तो उसने कहा यह दारी, रंडी, छिनाल मेरी औरत है । तब पण्डित जी विचार करने लगे कि इस औरत का तो यही पति है । यह गालियाँ तो अपने आप को ही दे रहा है, किन्तु इसे पता नहीं है इसे समझाना चाहिये ।

तब पण्डित जी जाट से बोले भाई ! तू जो यह गालियाँ इस औरत को दे रहा है क्या तू इनका अर्थ जानता है यह सब गाली किसे लग रही है ? तब जाट ने गुस्से में कहा जो साला मेरी गालियों को सुनकर समझता

है उसीको मेरी गालियाँ लगती है, मैं तो गालियों का अर्थ नहीं जानता हूँ । पण्डित जी सर नीचा कर चुप-चाप चल दिये । जाट का तात्पर्य यह था कि मैं तो गालियों का अर्थ समझता नहीं हूँ तू ही समझता है तुझे ही लगती है ।

ठीक इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण के संयोग से शुभाशुभ कर्म होते देख उनमें अज्ञानी ही पुण्य-पाप की कल्पना करता है किन्तु ज्ञानी को पाप-पुण्य की कल्पना नहीं होने से उसे पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते हैं । तथा पागल एवं बालक के मन में भी पुण्य-पाप का भाव नहीं होने से उन्हें भी नहीं लगते हैं । अज्ञानी के मन में अपने कर्मों के प्रति शुभाशुभ भावना होने से उसे ही पुण्य-पाप स्पर्श करते है ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्यते तत्त्ववित् । - ५/८

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि सइमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। - १८/१७

जिस ज्ञानी पुरुष की बुद्धि में द्रष्टा, साक्षी, असंग, निष्क्रिय आत्मभाव जाग्रत हो चुका है, ऐसा साक्षी भाव में स्थित ज्ञानी महापुरुष के देह संघात द्वारा किसी भी प्रकार की क्रिया होने पर भी उसे किंचित् भी फलप्राप्त नहीं होता है । उसके मन में यही दृढ भावना रहती है कि मैं किंचित् भी कर्ता नहीं हूँ । सब कर्म गुणों के द्वारा इन्द्रियाँ करती है एवं मन ही उनके फलों का भोक्ता होता है ।

ज्ञानी के मृत्यु में नियम नहीं

तीर्थे स्वपचगृहे वा नष्ट स्मृतिरपि त्यजन्ददेहम् ।
ज्ञान समकाल मुक्त: कैवल्य याति हति शोक: ।।

काशी आदि तीर्थ में अथवा चांडाल के घर में आत्मज्ञानी के शरीर का पात हो अथवा सन्निपातादि रोग वश ब्रह्मात्म स्मृति से रहित हो शरीर त्याग हो जावे फिर भी ज्ञानवान् मनुष्य को कैवल्य मोक्ष की ही प्राप्ति होती है । अत: तत्त्ववेता आत्मज्ञान युक्त होने के समय से ही मुक्त तथा समस्त शोक से रहित होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

'तरति शोकं आत्मवित्'

हे आत्मन् ! योगी, कर्मी भक्त के लिये यह नियम है कि '**अन्त मति सो गति**' अर्थात् देह त्याग के समय जैसी मनोदशा होगी उसकी भावी वही गति होगी । जैसे भरत की हरिन में आसक्ति होने से वह शरीर त्याग कर हरिन योनि में ही गये इसी प्रकार भक्तों की मृत्यु काल में उनके इष्ट का ध्यान, मन्त्र, आसन, लोक मार्ग शुक्लायन आदि पक्ष का होना परमावश्यक है, अन्यथा वह पथ भ्रष्ट हो जावेगा ।

ज्ञानी की स्थिति चाँवल की तरह होती है, चावल जबतक रहेगा, जिस रूप में उसका उपयोग किया जायगा, वह अन्न पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होगा । वह जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त होगया क्योंकि धान की तरह अब उसमें न आवरण है न बीजत्व शक्ति है जो उसे पुनर्जन्म (उत्पन्न) करा सके । इसी प्रकार ज्ञानी को देहभाव एवं कर्ता–भोक्ता जीव भाव समाप्त हो जाने से वह जीवन्मुक्त रहता है, अब वह जब तक रहे जैसे रहे जो करे वह नित्यमुक्त है ।

◈ ◈ ◈

ज्ञानी को ध्यान की कर्तव्यता नहीं

'यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय:'

ज्ञानी परमात्मा को मैं रूप से, आत्मरूप से निश्चय कर लेता है इसलिए उसके लिए ध्यान करने योग्य परमात्मा अपने आत्मा से भिन्न प्रतीत ही नहीं होते है, तब वह किसका व कैसे ध्यान करे ? फिर ध्यान अन्य देखी हुई वस्तु का ही होता है बिन देखी वस्तु का ध्यान नहीं कल्पना ही होती है । तभी कहा है –

'जाकि रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'

इसलिये ज्ञानी के लिये ध्यान की कर्तव्यता नहीं । वह तो जिधर भी देखता है गोपियों की तरह सर्वत्र श्याम ही अर्थात् अपना आपा (आत्मा, ब्रह्म) ही अनुभव करता है, इसलिये उसकी सर्वदा समाधि ही बनी रहती है । उसे अज्ञानी की तरह आँख, नाक, कान बन्द नहीं करना पड़ता है । अपरोक्षानुभूति में कहा है –

'दृष्टि ज्ञानमयि कृत्वा पश्येत ब्रह्ममयं जगत्'

यदि दृष्टि पर हरा, पीला, लाल, नीला, बैगंनी रंग के ग्लास का चश्मा लगा होगा तो उसे चश्में के ग्लास के रंगानुसार दृश्य भासने लगता है । ज्ञानी की दृष्टि में जब सद्गुरु की कृपा से ब्रह्म दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो वह सर्वत्र एक ब्रह्म को ही देखता है । उसे सभी ओर सब रूप में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य दिखाई ही नहीं पड़ता है तब वो क्यों आंख बन्द करे एवं किस कल्पना का ध्यान करे । क्योंकि ध्यान, जप, प्रार्थना अपने से भिन्न किसी श्रेठ की कल्पना में होता है । ज्ञानी अपने आत्मा से श्रेष्ठ कुछ नहीं देखता ।

साक्षी ही मुक्त

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुन: पुन: ।
स एवं मुक्त: सो विद्वानिति वेदान्त डिंडिम: ।।

जिस जीव ने अपने आत्म स्वरूप को स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों देह, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश आदि का अपने को साक्षी द्रष्टा जान लिया है तथा जिसने समस्त जड़ कार्यों को अपने से पृथक् बारम्बार विचार द्वारा दृश्य रूप निश्चय कर लिया है, वही जीव मुक्त है, वही विद्वान है । ऐसा वेदान्त शास्त्र का खुले रूप से उद्घोष है ।

देखिये ! अभी तक के विषयों द्वारा आपने यह समझा कि मैं (आत्मा) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा विशेष ज्ञान रूप जो महाकारण देह है वह भी मैं नहीं हूँ । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्था बुद्धि की है । भूख-प्यास प्राण के धर्म है एवं शोक-मोह मन का धर्म है और मैं इन सबका द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ।

व्यष्टि स्थूल देह का अभिमानी मैं विश्व नहीं हूँ ।

समष्टि शरीर का अभिमानी मैं वैश्वानर नहीं हूँ ।

व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी मैं तैजस नहीं हूँ ।

समष्टि सूक्ष्म शरीरों का अभिमानी मैं सूत्रात्मा नहीं हूँ ।

व्यष्टि कारण शरीर का अभिमानी मैं प्राग नहीं हूँ ।

समष्टि कारण शरीर का अभिमानी मैं ईश्वर भी नहीं हूँ ।

मैं तो उपरोक्त सभी अभिमान एवं उपाधियों से रहित ईश्वर साक्षी एवं जीव साक्षी का अधिष्ठान कूटस्थात्मा शुद्ध ब्रह्म ही हूँ ।

तथा तुरीय, द्रष्टा नाम भी मेरे नहीं है, क्योंकि जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति यह तीनों अवस्था परमार्थ रूप से तो सिद्ध होती नहीं है, किन्तु यह तीनों अवस्था मुझ आत्मा में कल्पित की गई है । इन्हीं की अपेक्षा से तीनों से भिन्न चौथा मेरा साक्षी, द्रष्टा तुरीय नाम कल्पित हुआ है । तत्त्वत: न मैं तुरीय हूँ और न मैं इसका द्रष्टा हूँ । यह तुरीय भी मुझ में द्रष्टा साक्षी की तरह कल्पित होने से मिथ्या है । क्योंकि जब दृश्य तथा साक्ष्य ही सत्य नहीं है, तब इन पदार्थों का द्रष्टा तथा साक्षी मुझे कौन कहेगा ? इन दृश्य और साक्ष्य कल्पित पदार्थों की अपेक्षा से ही मेरा द्रष्टा, साक्षी नाम रखा है ।

तत्त्वज्ञ के लिये दृश्य ही नहीं तो द्रष्टा नाम भी सत्य नहीं है । साक्ष्य नहीं तो उसका साक्षी एवं तुरीय नाम भी नहीं है । क्योंकि दृश्य तथा साक्ष्य ये दोनों तत्त्व परमार्थ रूप से सिद्ध नहीं होते हैं । अस्तु उनके अपेक्षा से रखे द्रष्टा, साक्षी नाम भी मुझ आत्मा का सिद्ध नहीं होते हैं । केवल निष्प्रपंच स्वयं प्रकाश, स्वत: सिद्ध, निरुपाधिक, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, मन-वाणी से अगोचर मैं आत्मा ही हूँ, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये । समस्त जगत् के पदार्थों में से कल्पित नाम-रूप की उपाधि रहित केवल मात्र एक सत्, चित्, आनन्द, अस्ति, भाँति तथा प्रिय रूप से मैं आत्मा ही विद्यमान हूँ । अद्वैत स्वरूप में एक, दो गिनती नहीं है । जब वहाँ दूसरा कोई हो तब ही तो एक की गिनती हो, जब कोई दूसरा ही नहीं तो प्रथम किसे कौन कहेगा ? यह तो ज्ञान होने से पूर्व ही पुरुष, प्रकृति, माया, ईश्वर एवं जीव का भेद प्रतीत होता है, परन्तु परमार्थ में यह द्वैत नहीं है, केवल एकमात्र स्वयं प्रकाश अद्वितीय ब्रह्मरूप मैं ही हूँ ।

‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’, ‘नेह नानास्ति किंचन’

जाग्रत स्वप्न: सुषुप्ति च गुणतो बुद्धि वृत्तय: ।
तासां विलक्षणो जीव: साक्षी त्वेन विनिश्चितम ।।

भागवत ११-१३-२७

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्च्छा, समाधि आदि अवस्थाएँ बुद्धि की ही वृत्तियाँ है इन सबसे विलक्षण इनका प्रकाशक साक्षी, आत्मा इनके गुण धर्मों से पृथक् नित्य मुक्त है ।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्तयादि प्रपंच यत्प्रकाशते ।
तद् ब्रह्मामीति ज्ञात्वा सर्व बन्धै: प्रमुच्यते ।।

- कैवल्योप. १७

जो बुद्धि की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं को प्रकाशित करता है वह **‘साक्षी ब्रह्म मैं हूँ’** ऐसा जो जानता है वह सब कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृतस्य योगिन: ।
नेवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्तिचेत् न स तत्त्ववित ।।

सद्गुरु कृपा से जिस ज्ञानी पुरुषने अपने को मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस प्रकार के ज्ञानामृत का पान कर लिया वह तो कृतकृत्य हो चुका है । जिस हेतु मानव जीवन पाया था वह उस लक्ष्य को प्राप्त कर चुका । जिसे जानना था उसे वह जान चुका है, अब उसके लिये किंचित् भी कर्तव्य नहीं है ‘**तस्य कार्यं न विद्यते**’ यदि वह किंचित् भी अपने नित्य कल्याण स्वरुप आत्मा में कर्तव्य मानता है, तो उसे अज्ञानी ही जानना चाहिये ।

◈ ◈ ◈

मैं सच्चिदानन्द

हे जीवात्मा ! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान इन तीनों कालों में रहने से तू आत्मा सत्य है । तीनों अवस्थाओं को जानता है, इसलिये तू चित (चैतन्य, ज्ञान) स्वरूप है । सदा अपने आप में प्रियता होने से परम प्रेमास्पद परम् आनन्द स्वरूप है । इस प्रकार श्रुति में जो ब्रह्म के सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप लक्षण बताये हैं वही तुझ में भी है । अत: अपने को सच्चिदानन्द रूप द्रष्टा, आत्मा पहचानकर दु:खों से मुक्त हो जा ।

देख विचार कर ! पिछले जन्म में तू किसी देह में था, कर्मानुसार आज इस देह में है तथा भविष्य में अन्य देह में तू रहेगा, इसलिये तू सद्रुप है, तथा जाग्रत काल से निद्रा काल तक तू सबको जानता है, सब व्यवहार को देखता है तथा सब विषयों का तुझे ज्ञान रहता है । जो आना-जाना, लेना-देना क्रिया होती है, उन सबको तू जानता है, इसलिये तू केवल चिद्रुप ज्ञान स्वरूप आत्मा है । अगर तू चैतन्य आत्मा न होता तो कोई व्यवहार हो नहीं पाता एवं अनुभव तुझसे कहा नहीं जा सकता । सभी अवस्था में स्त्री, धन, पुत्र, इन्द्रिय, प्राण सबसे अधिक अपने आप अर्थात् आत्मा में प्रीति है इसलिये तू स्वयं आनन्द स्वरूप है । पंचदशी में भी कहा है -

वित्तात्पुत्र: प्रिय: पुत्रात् पिड: पिडात्तर्थेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रिय: प्राण: प्राणात् आत्मा पर: प्रिय: ।।

धन कमाने लोग देश-विदेश जाते हैं, लेकिन उस धन से पुत्र प्रिय है, क्योंकि पुत्र के लिये, उसकी स्वास्थ्य रक्षा हेतु रुपया, धन खर्च कर देते

हैं । पुत्र से भी शरीर प्यारा है । क्योंकि अकाल (दुर्भिक्ष, दुकाल) समय में अपने प्राणों की अन्न, जलादि से रक्षा करने हेतु किसी पैसे वाले के हाथ अपना प्यारा लड़का-लड़की एवं पत्नी तक बेचकर शरीर रक्षण करते देखा जाता है । शरीर से भी अपनी इन्द्रियाँ प्रिय होती है, क्योंकि जब कोई मारने लगता है तो हम इन्द्रियों को बचाते हैं, हाथ द्वारा सिर, कान, नाक, आँखादि ज्ञानेन्द्रियों को बचाते हैं, एवं शरीर व कर्मेन्द्रियों को पिटने देते हैं । इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों की रक्षा हेतु हम कर्मेन्द्रिय तथा शरीर का भी मोह छोड़ देते हैं । क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा हेतु ज्यादा निकट एवं उपयोगी है, ऐसा सबका अनुभव भी है । इन्द्रियों से भी प्रिय प्राण है, क्योंकि जब डाक्टर द्वारा पता चल जाता है कि अमुक अंग रोग ग्रस्त है, एवं उसे बिना काटे जीवन रक्षा सम्भव नहीं है, तब रुपया देकर इन्द्रियाँ कटवाते देखा जाता है । प्राण से भी आत्मा प्रिय है, क्योंकि जब पुरुष अत्यधिक वृद्ध तथा रोगी हो जाता है, तब वह कहता है कि मेरे प्राण चले जायें तो मैं सुखी हो जाऊँ । भगवन् ! मुझे अब इस शरीर से मुक्त करदो । ओह ! सबकी भगवान सुनता है, मेरी ही मौत क्यों नहीं आती ? अर्थात् मेरे प्राण कैसे भी निकल जायें ऐसा चाहते हैं । इस प्रकार कहने से देह, इन्द्रिय, प्राण से भिन्न ही कोई सुख रूप आत्मा है, ऐसा सबके अनुभव में आता है और वह आनन्द स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है कि हे मैत्रेयी ! सभी स्त्री, पति, पुत्र, धन, पशु, तथा गृह, भगवान, देवता लोक की सेवा, पूजा, भक्ति आदि सभी अपने आत्मा के सुख के साधन होने से ही सबको प्रिय लगते हैं । अगर कोई प्रतिकूल होता है, तो उसे त्यागने में भी देर नहीं लगती है । इससे सिद्ध होता है कि स्त्री, पुत्र, पति, धनादि में मुख्य प्रियता नहीं है । अन्य आत्मिक सुख के साधन होने से वे प्रिय होते हैं । मैं स्वयं आत्मा ही आनन्द रूप हूँ । इस प्रकार आत्मा के ज्ञान से ही जीव समस्त दुःखों से छूट अखण्डानन्द को

प्राप्त कर सकता है । आत्मज्ञान के अलावा मुक्ति पाने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं है ।

नेम, धर्म, आचार, वृत, जोग, यज्ञ, मख, दान ।
भेषज पुनि कोटिंह करों, रुज न जाय हरिजान ।।

हरि कहते हैं जो जीव के दैविक, दैहिक तथा भौतिक इन त्रितापों को हर ले, वही हरि है अथवा सत, रज, तम इन तीनों के बन्धन से जो मुक्त करादे वह हरि है । अतः इन तीनों गुणों से रहित जो गुणातित, अद्वितीय, अखण्ड, अविकारी शक्ति होगी वही तो जीव को भगसागर से पार करा सकेगी । उसके लिये एकमात्र आत्मा ही ऐसी शक्ति अथवा साधन है, जो त्रिताप को हरण कर सकती है एवं जीव को त्रिताप रहित आनन्द रूपता का अनुभव करा सकती है । आत्मज्ञान द्वारा ही जीव भवरोग से मुक्त होना चाहे तो ही हो सकता है । अन्य करोड़ों उपाय रूप औषधियाँ क्यों न करे तो भी इस भवरोग से कभी मुक्ति नहीं हो सकेगा । अस्तु ! ज्ञान द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है । ज्ञान से ही सत-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य का विवेचन कर अपने सत्-चित, आनन्द स्वरूप का ज्ञान होकर जीव मोक्ष को प्राप्त हो सकता है । तुलसी दासजी भी जीव को सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश बता रहे हैं । अंश सदा अपने अंशी रूपी ही होता है । इस हेतु जीव सच्चिदानन्द नित्यशुद्ध ब्रह्म ही है ।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी,
चेतन अमल सहज सुखराशी ।

'अमृतस्य पुत्रा' – वेद

ममैवाशों जीवलोके जीवभूतः सनातनः – गीता : १५/७

अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि जीव अपने अंशी ब्रह्म से अभिन्न होने से ब्रह्म रूप ही होता है । साथ ही अविनाशी, चेतन सहज

सुखराशी अर्थात् परमानन्द स्वरूप है और अमल अर्थात् नाम, रूप माया मल से रहित शुद्ध है ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।

– गीता : १५/११

हे आत्मन् ! जिन साधको ने कर्म, उपासना द्वारा अपने मल, विक्षेप दोषों को दूर कर लिया है तथा स्वरूप अज्ञान को दूर करने के लिये किसी तत्त्वदर्शी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण कर चुके हैं, ऐसे साधक विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता इन साधनों सहित वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हैं । फिर 'तत्त्वमसि' महावाक्य का लक्षार्थ 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार ज्ञान चक्षु द्वारा अनुभव करते हैं । वे ही दुःखों से सर्वथा मुक्त रहते हैं ।

किन्तु जिसका निष्काम कर्म एवं भगवान या गुरु की भक्ति द्वारा अन्तःकरण का मल, विक्षेप दोष दूर नहीं हुआ है, वे लोग अपने मन कल्पित देवताओं की सकाम भाव से उपासना करते हैं । उपासना के फल स्वरूप स्वर्ग, वैकुण्ठादि लोकों में जाकर भी वे पुनः इस मृत्युलोक में लौट आते हैं । क्योंकि बिना स्वरूप ज्ञान के करोड़ों कर्म द्वारा भी मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है ।

'वस्तुसिद्धि र्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः'

– विवेक चूडामणी

षड् उर्मियाँ मैं नहीं
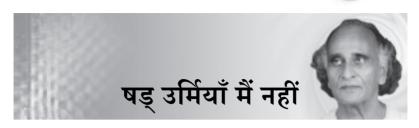
आत्मब्रह्म को जन्म, मरण, क्षुधा, पिपासा, शोक तथा मोह यह छह उर्मि (तरंग) रहित शास्त्रों में बताया है । अब यही छह उर्मि रहित जीव भी सिद्ध हो जावे तो फिर जीव ब्रह्म की एकता मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी । जैसे सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म स्वरूप के तीनों लक्षण जीव में सिद्ध होते हैं, वैसे ही यह जीव छह उर्मि रहित भी सिद्ध होता है ।

देखिये ! जन्म-मरण यह दोनों उर्मि स्थूल देह की है, यह दृश्य देह मरण तथा जन्म को प्राप्त होता है, किन्तु तू इसका द्रष्टा, आत्मा जन्म-मरण से रहित है । अगर जीव की मृत्यु हो जावे तो फिर संचित कर्म का भोग कौन करेगा ? फिर तू तो जीव का भी साक्षी कूटस्थ द्रष्टा साक्षी आत्मा देहादिकों से भिन्न है ।

क्षुधा-पिपासा यह प्राण के धर्म है । अन्न, जल बिना प्राण व्याकुल होते हैं एवं अधिक काल न मिलने से प्राण क्रिया बन्द हो मृत्यु हो जाती है, किन्तु तू इस प्राण एवं भूख-प्यास का द्रष्टा है, इसलिये भूख-प्यास ये दोनों उर्मिया तेरी नहीं है ।

शोक-मोह, सुख-दुःख धर्म मन का है, तुझ आत्मा के नहीं है । यदि तुझ आत्मा के धर्म होते तो सुषुप्ति अवस्था में भी शोक-मोह, सुख-दुःख द्वन्द्व प्रतीत होना चाहिये था । किन्तु उस वक्त किसी प्रकार का द्वन्द्व नही है । तू आत्मा इन मनादि द्वन्द्वों का द्रष्टा, साक्षी इनसे पृथक् है । कर्म के फल रूप सुख दूःख का भोक्ता भी तू नहीं है, बल्कि इनका साक्षी प्रकाशक इनसे न्यारा है ।

दिव्यदृष्टि

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद ब्रह्ममयं जगत् ।

– अपरोक्षानुभूति : ११६

दृष्टि को ज्ञानांजन से शुद्ध कर सर्व दृश्य को ब्रह्म रूप देखना ही मंगलमय दृष्टि है । हे आत्मन् ! कार्य के रहते हुए उसे उसके उपादान कारण रूप निश्चय करने का नाम लयचिंतन है । संसार की समस्त वस्तुएँ ब्रह्ममय देखना ही आत्माकार अथवा ब्रह्माकार वृत्ति कहलाती है । इसी ब्रह्माकार वृत्ति को मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान कहते हैं । जो मन्द जिज्ञासु ब्रह्म ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, उनके लिये यह लयचिन्तन द्वारा भी मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो जाती है ।

जीव ब्रह्म स्वरूप से च्यूत होकर जगत् में भ्रमवश अपने को जन्म-मृत्यु, कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, धर्मी-अधर्मी मान सुख-दुःख भोगा करता है । लय चिन्तन अर्थात् विचार प्रक्रिया द्वारा जीव को उसके मूल स्थान ब्रह्म स्वरूप को पुनः लौटा दिया जाता है । मोक्ष की प्राप्ति में ज्ञान विचार ही एकमात्र साधन है । अतः विचार द्वारा ही ज्ञान एवं ज्ञान से ही मोक्ष होता है ।

वस्तुतः तो ज्ञान से पूर्व ही जीव मोक्ष स्वरूप है एवं ज्ञान के बाद भी जीव पूर्ववत् मुक्त ही रहता है । ज्ञान किसी नूतन तत्त्व की प्राप्ति नहीं करता है, केवल ज्ञान द्वारा अज्ञान का ही नाश होता है । अतः ज्ञान से मोक्ष है, कर्म अथवा उपासना से नहीं । वह ज्ञान अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् **अणु-अणु ब्रह्म है ऐसा ज्ञान ही मोक्ष का**

साक्षात् स्वरूप है । यदि संसार की किसी एक वस्तु को लयचिंतन द्वारा ब्रह्म रूप सिद्ध करलिया जाता तो फिर अन्य समस्त वस्तुओं को उसी सिद्धान्तानुसार ब्रह्म रूप जान सकेंगे ।

समझलें यह एक मिठाई है । इसे आप चाहे, लड्डु, गुलाब जामुन, रसगुल्ला, बर्फी, पेड़ा कुछ भी कहो, यह मिठाई नाम तो मिथ्या है, किन्तु समस्त मिठाई में मिठास सत्य है । मिठास से भिन्न मिठाई में अन्य कुछ नहीं है । लेकिन विचार द्वारा ज्ञात हुआ कि जो मिठाई की मिठास् है वह चीनी का ही प्रभाव है । अतः मिठास सत्य नहीं है चीनी ही सत्य है । क्योंकि चीनी से भिन्न मिठास अलग से कुछ नहीं है । फिर विचार द्वारा देखा कि चीनी गन्ने का ही उत्पादन है इसलिये गन्ने से भिन्न चीनी कुछ नहीं है । अतः चीनी गन्ना स्वरूप ही है एवं मिठाई चीनी स्वरूप ही है । आगे विचार द्वारा पता चला कि यह गन्ना भी अपने में सत्य नहीं है क्योंकि गन्ने की मिठास पृथ्वी का ही अंश है । पृथ्वी से भिन्न न मिठास है न गन्ना है । अतः गन्ना चीनी मिठाई पृथ्वी स्वरूप है । इसलिये पृथ्वी ही सत्य है बाकी सब नाम मिथ्या है ।

पृथ्वी की उत्पत्ती जल से है । अतः न पृथ्वी सत्य है, न गन्ना सत्य है, न चीनी सत्य है, न मिठाई सत्य है, न रसगुल्ला नाम सत्य है, बल्कि सब जल स्वरूप ही है, क्योंकि जल से भिन्न पृथ्वी में रस कुछ नहीं है अतः जल ही सत्य है ।

जल की उत्पत्ति तेज से बताई गई है । जब पृथ्वी, गन्ना, चीनी, मिठाई आदि ये सभी नाम जो अभी जल स्वरूप माने थे वे वास्तव में जल स्वरूप न होकर तेज स्वरूप ही है । अतः तेज सत्य है बाकी सब नाम मिथ्या है ।

तेज की उत्पत्ति तो वायु द्वारा हुई है । अतः अब तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी एवं मिठाई समस्त जो तेज स्वरूप मानी थी वह सब वायु

स्वरूप ही जानो बाकी अन्य सभी नाम मिथ्या ही है केवल वायु ही सत्य है ।

'आकाशः सम्भूतः' श्रुति अनुसार वायु की उत्पत्ति आकाश से हुई है तो फिर वायु भूत सत्य नहीं है, क्योंकि आकाश कारण भूत से कार्य रूप वायु भिन्न नहीं है । अतः सभी जो वायु से तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी एवं मिठाई कार्य माना था उन सबका कारण एक आकाश ही है । शेष वायु से लेकर सभी रसगुल्ला तक के नाम भ्रम ही है । अतः सब आकाश स्वरूप ही है ।

श्रुति में आकाश की उत्पत्ति तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्मभूत रूप बताया है । अत: तन्मात्रा ही केवल है, शेष सभी आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी, मिठाई, रसगुला आदि नाम कल्पित है । तन्मात्रा की उत्पति समष्टि जीवों के अहंकार रूप अहंतत्त्व से बताई गई है । अतः अहंतत्त्व ही सत्य है, बाकी आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, मिठाई नाम, रूप उपाधि कल्पना मात्र है ।

पुन: श्रुति कहती है कि अहं तत्त्व की उत्पत्ति महतत्त्व अर्थात् समष्टि जीवों की बुद्धिशक्ति प्रकृति से हुई है । अत: महत्तत्व, अहंतत्त्व, तन्मात्रा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी, मिठाई, रसगुल्ला सभी नाम कल्पित है केवल सभी पदार्थ प्रकृति रूप है ।

प्रकृति का जनक माया है । अत: सब मायामात्र है । शेषसभी प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, तन्मात्रा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी मिठाई नाम कल्पित है अर्थात् समष्टि जीवों के बुद्धि द्वारा हुई है । अत: अहंतत्त्व, तन्मात्रा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी, मिठाई, रसगुल्ला आदि नाम कल्पित है एवं महत्तत्त्व ही इन सब का उपादान कारण सत्य है । इसलिए माया स्वरूप है एवं वह माया ब्रह्म से भिन्न नहीं इसलिए वह सब ब्रह्म स्वरूप ही है । अस्तु ! माया, महत्, अहं,

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी, मिठाई समस्त, नाम वस्तु मिथ्या है, किन्तु माया उपहित ब्रह्म ही सत्य है, क्योंकि यह सब उससे ही उत्पन्न हुआ है ।

शक्ति अपने शक्तिवान् स्वरूप ही होती है, जैसे मनुष्य से भिन्न मनुष्य की शक्ति कुछ नहीं है, बल्कि वह मनुष्य स्वरूप ही होती है । इसी प्रकार मायाशक्ति, शक्तिवान् ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है बल्कि ब्रह्म स्वरूप ही है । अत: माया, महत्, अहं, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, गन्ना, चीनी तथा मिठाई आदि सभी नाम कल्पित है बल्कि ब्रह्म स्वरूप ही है । इसलिये समस्त जगत एवं उसमें स्थित वस्तु, प्राणी, ब्रह्म स्वरूप ही है । ब्रह्म का कोई कारण नहीं वह स्वयं प्रकाश कारणों का कारण है । अत: ब्रह्म ही शेष अन्तिम सत्य है ।

सभी वस्तुओं की कल्पना अज्ञान से ब्रह्म में आरोपित की है एवं यह सिद्धान्त है कि आरोपित (अध्यस्त) वस्तु अधिष्ठान से पृथक् सत्ता वाली नहीं होती है । अत: समस्त जगत् ब्रह्म में ही अध्यस्त होने से अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् कुछ नहीं है, बल्कि ब्रह्म रूप ही हैं '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' इस श्रुति सिद्धान्तानुसार अणु-अणु ब्रह्म है, यही सत्य है ।

इस प्रकार अर्थ चिन्तन, दिव्य दृष्टि द्वारा अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि सम्भव है, इससे अन्य सभी ज्ञान मिथ्या भेद मूलक है । इस प्रकार जिज्ञासु अपने सहित समस्त जगत् को ब्रह्ममय जानकर मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है । मोक्ष के लिये अन्य कर्म, उपासना की आवश्यकता नहीं । मैं द्रष्टा-साक्षी आत्मा हूँ, इस प्रकार जो अपने स्वरूप को जान लेता है, वही तत्त्ववेता मोक्षगामी होता है । बाकी तो सब संसार चक्र में भ्रमण किया करते हैं ।

लय चिन्तन

प्राणियों के शरीर अन्त में, भूमी में और भूमी अपने गुण गन्ध(तन्मात्रा) में लीन हो जाती है । गन्ध तन्मात्रा जल में लीन हो जाती है, जल अपने गुण रस में लीन हो जाता है, रस अपने गुण तेज में लीन हो जाता है और तेज अपने गुण रूप में लीन हो जाता है । रूप वायु में, वायु स्पर्श में, स्पर्श आकाश में तथा आकाश शब्द तन्मात्रा में लीन हो जाता है, और शब्द तन्मात्रा पंचभूतों के कारण तामस अहंकार में लीन हो जाती है । इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण देवताओं में लीन हो जाती है और अन्तत: राजस अहंकार में समा जाती है, राजस अहंकार अपने नियन्ता सात्विक अहंकार रूप मन में और सारे जगत् को मोहित करने में समर्थ सत, रज, तम त्रिविध अहंकार महत्तत्त्व में लीन हो जाते हैं । ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति प्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणों में लीन हो जाती है । गुण अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने कारण गुणों में लीन हो जाती है । काल मायामय जीव में और जीव मुझ अजन्मा अविनाशी आत्मा में लीन हो जाता है । आत्मा किसी में लीन नहीं होता वह उपाधि रहित अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, फिर इसी के उल्टे क्रम से सृष्टि होती है । जो इस रहस्य को तत्त्व से जानता है, वह, पंच भौतिक जगत के प्रपंच में सत्य बुद्धि कर आसक्त नहीं होता ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्मम्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। – १३/३२
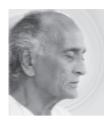
संसार वृक्ष

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेन सुविरूढमूलमस'शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।

– गीता : १५/३

हे आत्मन् । इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहाँ है, वैसा यहाँ विचार काल में नहीं पाया जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् नहीं पाया जाता है । जिस प्रकार आंख खुलने के बाद स्वप्न का संसार नही पाया जाता है, उसी प्रकार जाग्रत जगत है । क्योंकि न तो इसके प्रारम्भ का ही पता है, और न अन्त का पता है कि यह सृष्टि प्रवाह कब समाप्त हो जावेगा ? तथा क्षीण भंगुर होने से इस सृष्टि की अच्छी प्रकार से स्थिति भी नहीं है । इसलिये इस अंहता–ममता और वासना रूप अति दृढ मूलों वाले संसार रूप पीपल के वृक्ष को दृढ असंग शस्त्र द्वारा काटना चाहिये ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।

– गीता १५/४

उसके पश्चात् उस परमपद रूप परमेश्वर को भली–भाँति खोजना चाहिये, जिससें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते है । जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायण के साथ एकीभाव अर्थात् सोऽहम् भाव को प्राप्त होना चाहिये । जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर फिर संसार में नहीं आते उस स्वयंप्रकाश परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न

चन्द्रमा, न अग्नि, न मन, न वाणी और न बुद्धि ही । वही मैं परम प्रकाश, परम धाम हूँ, ऐसा बारम्बार दृढ निश्चय श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा कर जीवन मुक्ति प्राप्त करना चाहिये ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्धमागता:
सर्गऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

– १४/२ गीता

हे आत्मन् ! इस ब्रह्म भाव, साक्षी भाव, द्रष्टा भाव को धारण करके पुरुष सृष्टि के आदि में पुन: उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में भी व्याकुल नहीं होते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ।।

– ४/३४ गीता

अस्तु हे आत्मन् ! उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भली भांति दण्डवत् प्रणाम कर उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलता पूर्वक प्रश्न करने से, वे परमात्म तत्त्व को भली भांति जानने वाले ज्ञानी महात्मा, तुझे उस तत्त्व ज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसे जानकर फिर तू इस प्रकार देह भाव को प्राप्त नहीं होगा ।

'सर्वं रवल्विदं ब्रह्म' – छन्दोग्य उप ४/१४

संसार की समस्त वस्तुऐं तथा प्राणियों के शरीर पंच महाभूतों के आधार पर ही आधारित है एवं व्यवहार सिद्धि हेतु उनके नाम एक काल्पनिक उपाधि है । संसार की समस्त वस्तुएं तथा प्राणी एक मात्र ब्रह्म में अधिष्ठित है एवं यह वेद का सिद्धांत है कि अधिष्ठित वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न सत्ता वाली कभी नहीं होती है, बल्कि वह अधिष्ठान स्वरूप ही होती है, विवेक हो जाने पर वह अध्यस्त वस्तु अपने अधिष्ठान में ही लय हो जाती है ।

जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में नेत्र दोष के कारण सर्प का भ्रम हो जाने पर भी सर्पकी अपने रस्सी अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं है । जो अध्यस्त सर्प भ्रमवश उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है, वह रस्सी रूप ही है । वह किसी व्यक्ति के पैर रखे जाने पर उसे काट नहीं सकता, न रस्सी को ही विषैली कर सकता है । क्योंकि वह सर्प रस्सी में केवल भ्रम से ही उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है किन्तु सत्य रूप से वहाँ सर्प कुछ हुआ ही नहीं ।

इसी प्रकार समस्त जगत् भ्रम से ब्रह्म में आरोपित किया गया है । वस्तुत: जगत् रूप से ब्रह्म से भिन्न कोई सत्य पदार्थ ही नहीं है । समस्त जगत् चराचर ब्रह्म रूप ही है एवं यही दृष्टि वास्तविक दृष्टि है जो समस्त जगत को ब्रह्मरूप देखता है । वेद में भी कहा है '' सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' तथा 'सियाराम मय सब जग जानी' आदि इस वेदान्त सिद्धान्त का एवं संत महात्माओं के महावाक्यों का हम कैसे अनुभव करें, कि यह सब जगत ब्रह्म ही है ? यह प्रश्न हमारे मन में उपस्थित हो जाता है । इसके उचित समाधान मिले बिना सर्वत्र कभी समता नहिं आ सकती, क्योंकि ऐसा नियम है कि –

'' बिन विज्ञान कि समता आवहि''
''ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना'' – रामायण

अत: यह ज्ञान क्या है एवं ज्ञान से समता तथा मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ? इसके समाधान हेतु 'तत्त्वमसि' इस वेद के महावाक्य का का अर्थ जानना होगा । तब हमें ज्ञान का महत्त्व समझ में आ सकेगा कि किस ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । 'तत्, त्वं, असि' यह तीन पदों से तत्त्वमसि महावाक्य बना है । तत् का मतलब है परमात्मा, त्वं का मतलब है जीवात्मा एवं असि का मतलब दोनों अभिन्न है अर्थात् वह परमात्मा तू जीवात्मा ही है ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत !

– गीता : १३/२

यहाँ जीवात्मा की एकता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान बताया है एवं इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है । मोक्ष प्राप्ति हेतु अन्य कोई मार्ग नहीं है । अत: एक ब्रह्म के ही नाना देह उपाधि में स्थित बुद्धि में पड़ने वाले सभी जीवात्मा प्रतिबिम्ब हैं । और वह अनेक प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब स्वरूप से भिन्न नहीं बल्कि बिम्ब रूप ही है ।

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा ।

– रामायण

जैसे आकाश स्थित सूर्य का जल पात्र में पड़ने वाला प्रतिविम्ब आकाश में स्थित सूर्य से भिन्न नहीं होता है । जल पात्र में दिखनेवाला प्रतिविम्ब हवा के दवाव से बिखर जाता है किन्तु आकाश स्थित सूर्य वहीं अचल बना रहता है । इसी प्रकार परमात्मा का प्रतिबिम्ब देह रूप घट में भरे बुद्धि में जीव रूप से भासता है । वह प्रतिविम्ब जीव विम्ब ब्रह्म से भिन्न नहीं है । ऐसा ही निश्चय करना चाहिये ।